मनोनिग्रह के दो मार्ग

स्वाध्याय—ध्यान

लेखक
मुनि श्री धनराजजी

सम्पादक
सम्पतराय बोरड़
मोहनलाल बरड़िया, बी० कॉम०

●

प्रकाशक
श्रीमती सौ० कस्तूरी देवी बोरड़
धर्मपत्नी श्री मदनचन्दजी बोरड़

प्राप्तिस्थान
मदनचन्द सम्पतराय बोरड़
दूकान नं० ४०, धानमण्डी,
पो० श्री गंगानगर (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति १०००

मूल्य—१-५० नये पैसे

मुद्रक :
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स,
४०२, अपर चितपुर रोड,
कलकत्ता-७

समर्पण

जिन्होंने संसार-सागर से तरने का
उपाय बताया
उन
महानुभाव
स्व० पूज्य मुनि श्री केवलचन्दजी
के
चरण कमलों
में

प्रायः आठ दस वर्ष से मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि श्री गंगानगर में शतावधानी मुनिश्री धनराजजी का चातुर्मास हो। क्योंकि आप मेरी धर्मपत्नी सौभाग्यवती श्रीमती कस्तूरी देवी के सगे भाई होते है। और मै मुनिश्री के लघु भ्राता मुनिश्री चन्दनमलजी तथा लघु भगिनी साध्वीश्री दीपाजी का चातुर्मास यहाँ करवा चुका था। अतः जब भी मैं आचार्यश्री तुलसी के दर्शनार्थ जाता, तब बार-बार यह प्रार्थना किया करता, प्रभो। श्री धनमुनिजी का चातुर्मास मेरे यहाँ करवाने की कृपा कीजिए।

बहुत देरी से, किन्तु इस वर्ष मेरी प्रार्थना पर ध्यान देते हुए आचार्यश्री तुलसी ने आप का (धनमुनि) चातुर्मास श्रीगंगा-नगर का फरमा दिया। इसके लिए मैं मेरा परम सौभाग्य समझता हूँ।

मुनिश्री की विद्वत्ता के बारे मे मैं कुछ कहूं उसकी बजाय उनकी कृतियाँ अपने आप ही पाठकों को कह देगीं। आप संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, भाषाओं के विद्वान् वक्ता और यशस्वी लेखक है।

धर्म प्रचारक के रूप में आपने जिन-जिन प्रान्तो में पाद-विहार किया है वहाँ की जनता आपके व्यक्तित्व और कृतित्व को भूलने मे असमर्थ है।

आप की लेखिनी की सरसता का आनन्द बालक, युवक, वृद्ध, शिक्षित, तथा नारी जगत् के लिए सहज प्राप्तव्य है। क्योंकि विद्वज्जन विद्वद् भोग्य साहित्य सृजन कर सकते है और कर रहे है किन्तु आप इस तथ्य के एक अपवाद हैं।

आप एक आचार निष्ठ, कर्त्तव्यपरायण, स्पष्ट वक्ता, ज्ञानी, ध्यानी और धम प्रचारक अग्रगण्य (ग्रूप लीडर) संत है। आप आचार के पक्ष में वरती जाने वाली शिथिलता के कट्टर विरोधी है। तथ्य यह है कि निजी आचारीय उज्ज्वलता के विना ऐसा होना असम्भव है।

आपके सहयोगी संत मुनिश्री भूमरमलजी व विनयी मुनिश्री मूलचन्दजी भी धर्म प्रचारार्थ जैन जैनतरो के आकर्षक-विन्दु है। आपकी प्रस्तुत पुस्तक अपने विषय की अलग व अनूठी कृति है। इसे पढ़ने से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह एक समय के अनुकूल प्रकाशितव्य है।

अतः मैं इसे मेरी धर्मपत्नी के नाम से प्रकाशित करवाकर साहित्य, समाज, और जनसेवा का यत्किंचित लाभ लेना चाहता हूँ।

आशा है कि मेरे इस लघु प्रयत्न को समाज आदर की दृष्टि से देखेगा।

श्रीगगानगर
१-१-६२

आपका
मदनचन्द बोरड़

सहयोग के लिए धन्यवाद

पाण्डुलिपि करने वाले श्री मोहनलाल चोपड़ा (गंगाशहर) श्री मोहनलाल वरडिया (नौहर) चित्रकार काले (वम्बई) चित्र प्रेपक कान्ती भाई वकीलवाला (वम्बई) तथा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहयोग कर्त्ताओं का मैं आभारी हूँ और उनको शतशः धन्यवाद है।

प्रकाशक

प्रस्तावना

यह तो सर्वविदित ही है कि तप के बारह भेदों मे स्वाध्याय और ध्यान का विशिष्ट स्थान है। शास्त्रो में मुनि के लिए "सज्झायज्झाणसंजुत्ते, धम्मज्झाणं झियायई", ऐसा विशेषण मिलता है। नीति मे भी "ज्ञानध्यानविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्", ऐसी सूक्ति उपलब्ध है। गीता मे तो स्वाध्याय को वाङ्मय तप कहा है। जैसे—"स्वाध्यायाऽभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते"। लेकिन स्वाध्याय का भी जाप एक महत्व पूर्ण अंग है, क्योंकि एक ही शब्द को बार-बार दोहराने से वह शक्तिशाली बन जाता है। एक सामान्य पिप्पली से चौंसठ-पहरी पिप्पली कितनी कीमती एवं शक्तिशालिनी हो जाती है, यह किसी से छुपा नहीं। गीता ने तो "यज्ञाना जपयज्ञोस्मि" कह कर, इसका विशेप महत्व वढ़ा दिया है। लेकिन जाप कैसे, कव एवं किस आसन से करना चाहिए, यह एक जानने का विषय है।

विना विधि के कोई भी कार्य फलित नहीं होता, फलित ही नहीं वल्कि कभी-कभी लाभ के वजाय हानि उठानी पड़ जाती है। चाकू से कलम बनाई जाती है लेकिन तरीका याद न हो तो कभी-कभी अंगुली भी कट जाती है। स्वाध्याय-ध्यान की सरल विधि वतलानेवाली यह पुस्तक सर्वोपयोगी होगी, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

अन्यान्य विषयों पर अनेक पुस्तके लिखी जा चुकी है, किन्तु इस विषय पर प्रकाश डालने वाली बहुत कम पुस्तकें देखने में आई है। अतः इस कमी की पूर्ति करने वाला, यह प्रयास विशेष स्तुत्य है।

यह तो विदित ही है कि "शतावधानी श्री धनमुनि" की प्रतिपादनशैली अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। दुर्गम विषय भी आपकी लेखिनी से सुग्राह्य बन जाता है। अतः यह संकलन प्रत्येक श्रद्धालु स्त्री-पुरुषों को स्वाध्याय और सद्ध्यान में प्रेरणा देगा, ऐसी शुभेच्छा है!

सं० २०१८ चातुर्मास
बम्बई

चन्दन मुनि

आदिकथन

किसी अनुभवी विद्वान ने कहा है "मन एव मनुष्याणा, कारण बन्धमोक्षयोः" अर्थात् मनुष्य का मन ही बन्ध एवं मोक्ष का कारण है। अगर इसे विषय-विकारों से जोड लिया जाय तो यह आत्मा को बाँध लेता है व हटा लिया जाय तो आत्मा को मुक्त बना देता है। योगशास्त्र में मन के चार भेद किये है :—(१) विक्षिप्त, (२) यातायात, (३) श्लिष्ट एवं (४) सुलीन।

इधर-उधर भटकने वाला मन "विक्षिप्त" कहलाता है। जो मन कभी अन्दर की ओर स्थिर होता है एवं कभी वाहर निकल कर दौड़ने लगता है, वह "यातायात" माना जाता है। जो मन पिछले की अपेक्षा विशेष स्थिर होता है, वह "श्लिष्ट" कहा जाता है और जो अत्यन्त निश्चल होता है, उस मन को "सुलीन" कहते है।

सर्वज्ञ भगवान ने मन को अत्यन्त साहसी, भयङ्कर, दुष्ट घोड़े के समान कहा है एवं धर्मशिक्षा द्वारा, इसके निग्रह का उपदेश भी दिया है। "श्रीमद्भगवद्गीता" में मनोनिग्रह के दो मार्ग वतलाए है—अभ्यास और वैराग्य।

"साधको की यह पुकार प्रायः रहती ही है कि माला फेरते है, जाप करते है, ध्यान ध्याते है एवं सामयिक-पौपध-प्रतिक्रमण

भी समय-समय पर करते है, लेकिन मन तो नहीं टिकता। दूसरे समय की अपेक्षा भजन-स्मरण के समय अधिक दौड़ लगाता है"। कुछ अंशो मे उनकी पुकार ठीक भी है, क्योकि प्रायः होता ऐसा ही है। दुनियाभर की ऊटपटाँग वाते उसी समय याद आती है। ये क्यों याद आती है और इन्हें कैसे रोका जाय, इस तत्त्व को समझने के लिए निम्नलिखित प्रसंग पढ़िये :—

छुआछूत को मानने वाले एक वेदान्ती ब्राह्मण ज्योंही खाना पकाकर खाने लगते, धोबी, मोची, चमार आदि पुराने दोस्त किसी एक कार्य के मिष आकर उनका चौका भींट देते और पंडितजी भूखे ही रह जाते। किसी अनुभवी मित्र के कहने से उन्होंने एक लाठी रखनी शुरु कर दी। जो भी आते दूर रहो दूर रहो कहकर लाठी दिखा देते। फलस्वरूप भोजन आनन्द से होने लगा एवं दोस्तों ने उस वक्त आना छोड दिया। प्ररूप्य यह हुआ कि—

ब्राह्मण आत्मा है, भजन स्मरण रसोई है, काम-क्रोध, मोह-लोभ आने वाले पुराने दोस्त हैं। सद्गुरुओं के कथनानुसार ज्ञान की लाठी दिखाने पर ही ये रुक सकेंगे।

किन्तु केवल कथन मात्र से विकारो का आना नहीं रुकता एवं मनोनिग्रह नहीं होता। उसके लिए साधक को यथेष्ट मार्ग चुनने पडेंगे एवं उन मार्गों पर विधिवत् चिरकाल तक चलना भी पड़ेगा। यद्यपि मनोनिग्रह के आगमों मे अनेक मार्ग दिखलाए

है जो एक-से-एक बढ़ते-चढ़ते हैं, फिर भी प्रस्तुत पुस्तक में स्वाध्याय और ध्यान, इन दो मार्गों पर ही मुख्यतया प्रकाश डाला गया है एवं इसलिए ही इसका नाम मनोनिग्रह के दो मार्ग रखा गया है।

रसभरी कहानी की पुस्तक की तरह सरसरी नजर से पढने के साथ ही इसका आनन्द लूट लेना मुश्किल है। इसे एक बार नहीं, अनेक बार गम्भीरतापूर्वक पढ़ना पड़ेगा और सोचना-विचारना पड़ेगा। फिर भी अपूर्व एवं उत्कृष्ट आनन्द तो उसी समय मिलेगा, जब इसमें वर्णित विधि के अनुसार स्मरण-चिन्तन और मनन किया जाकर मनोनिग्रह मे पूर्णतया सफलता प्राप्त की जायेगी। अस्तु। मैं इसी शुभ-कामना के साथ अपने इस आदि-कथन को परिसमाप्त करता हूँ कि साधकगण मेरे इस छोटे से प्रयास से लाभान्वित होकर स्वाध्याय ध्यान की दिशा मे अग्रसर बनें।

वि० स० २०१७
आश्विन शुक्ला दशमी, शुक्रवार
वालोतरा (राजस्थान)

धन मुनि

सूची-पत्र

पहला मार्ग : स्वाध्याय

दूसरा मार्ग : ध्यान

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

पहला मार्ग

•

स्वाध्याय

•

१–मन की परिभाषा

जिसके द्वारा सब इन्द्रियो के विषयो का अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का ज्ञान किया जाय एवं जो आलोचना-तर्क-वितर्क करने मे समर्थ हो, उसका नाम मन है। तत्त्व यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने नियत विषय को ही जान सकती है। जैसे—कान केवल शब्द का, आँख रूप का, नाक गन्ध का, जीभ रस का और त्वचा मात्र स्पर्श का ज्ञान करती है। लेकिन यह मन सबकी दलाली करता है यानी मन के द्वारा ही इन्द्रियाँ शब्द आदि को जानती है। इसीलिए शास्त्रो मे मन को नो-इन्द्रिय—कुछ इन्द्रियों जैसा कहा है। इन्द्रियों की तरह मन भी प्रवृत्ति करने मे बाह्य पुद्गलो की अपेक्षा रखता है।

मन दो प्रकार का है—द्रव्य मन और भाव मन। जो मनन-चिन्तन रूप आत्मा के विचार है, वे भाव मन हैं और उन विचारों की प्रवृत्ति करने मे यानी संकल्प-विकल्प करने मे जो बाह्य पुद्गल लिए जाते है, उन्हें द्रव्य मन कहते है। द्रव्य मन अजीव है एवं भाव मन जीव है। भाव मन एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवो के भी अव्यक्त रूप से होता है।

मन भूतकाल का स्मरण करता है, वर्तमानकाल का चिन्तन-ज्ञान करता है और भविष्य के लिए नाना प्रकार की कल्पना

करता है। इसकी चञ्चलता को रोकने के लिए स्वाध्याय एवं ध्यान, ये दो मार्ग अत्युत्तम माने गये हैं।

२-स्वाध्याय के पाँच प्रकार

विधिपूर्वक सत्-शास्त्रों को पढ़ने का नाम स्वाध्याय है। उसके पाँच प्रकार है—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा एवं (५) धर्मकथा।

(१) **वाचना**—सद्गुरुओ के पास तथा अपने-आप विधिपूर्वक धर्म-शास्त्रों का वाचन करना अथवा स्वयं दूसरों को करवाना **वाचनास्वाध्याय** है। वाचन सर्वप्रथम अपने मत के शास्त्रो (जैन-शास्त्रों) का करना चाहिए और वह भी गंभीर-चिन्तन-मननपूर्वक करना चाहिए। पढ़ने मात्र से तात्त्विक ज्ञान नहीं हो जाता। ज्यों-ज्यो शास्त्रों का अधिक मन्थन किया जायगा, त्यो-त्यों अद्भुत तत्त्वरत्न मिलेंगे।

स्वमत के शास्त्र पढ़ने के वाद परमत का अध्ययन भी परम आवश्यक है। जव तक अन्य मत का ज्ञान नहीं होगा, तव तक अपने मत की विशिष्टता पर पूर्ण श्रद्धा और गौरव का अनुभव भी कैसे होगा? क्योंकि पित्तल या काँच का अध्ययन करने पर ही सोने या हीरे के प्रति पूज्यभाव विशेप होता है। किन्तु जो अपने मत का ज्ञान किये विना ही अन्य मत के शास्त्र पढ़ने लग जाते है, वे आज के कतिपय युवक-विद्यार्थियो की तरह नास्तिक वन जाते हैं एवं अपने परम्परागत सर्वज्ञ-भाषित धर्म से विमुख हो जाते है।

(२) **पृच्छना**—पढते समय सूत्र अर्थ मे शंका होने पर, उसका समाधान करने के लिए विनयपूर्वक गुरुजनो से पूछना एवं चर्चा करना **पृच्छना-स्वाध्याय** है। प्रश्न करते वक्त जिज्ञासु बुद्धि रहनी चाहिए, आस-पास के व्यक्तियो का ध्यान रहना चाहिये तथा जिनसे पूछ रहे है उनको इसका उत्तर क्या आ जायेगा, इसका भी प्रश्नकर्त्ता को विचार होना चाहिये। इसके अलावा, पहले मुर्गी बनी या अण्डा ? ईश्वर के बनाये बिना जगत् कैसे बना ? पानी की एक बूद मे असंख्य जीव कैसे ? आदि-आदि अनेक प्रश्न ऐसे है, उनका न तो हर एक समाधान कर सकता और न ही हर एक उन्हें समझ सकता। ऐसे प्रश्नों को छेड़ कर न तो स्वयं व्यर्थ-वितण्डावाद करना चाहिये और न ही करनेवालों मे शामिल होना चाहिये। जहाँ भी उलझन प्रतीत हो, वहाँ विशेषज्ञो से जानना चाहिये, फिर भी समाधान न हो तो "सर्वज्ञ भगवान जाने" ऐसे कहकर शान्त हो जाना चाहिए।

(३) **परिवर्तना**—पढ़े हुए या गुरुओं से पूछे हुये ज्ञान को रटकर कण्ठस्थ करना, कण्ठस्थ ज्ञान का पुनरावर्तन करना (दुह-राना) एवं इष्टदेव का जाप करना **परिवर्तना-स्वाध्याय** है। जाप का वर्णन आगे किया जायेगा।

(४) **अनुप्रेक्षा**—तत्त्व के अर्थ पर गम्भीरता से चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय** है। जैसे—किसी साधक ने धर्म-

तत्त्व की अनुप्रेक्षा शुरू की—तो धर्म शब्द का क्या अर्थ है ? धर्म के कितने भेद है ? कौन से धर्म का क्या रहस्य है ? लौकिक धर्म एवं लोकोत्तर धर्म मे क्या अन्तर है ? आत्मिक-कल्याण कौन से धर्म से होता है ? आदि-आदि धर्मके अनेक पहलुओं पर विचार करता हुआ साधक धर्ममय बन जाता है। लेकिन यह साधना कोई विशेष ज्ञानी ही कर सकता है। अनुप्रेक्षा का विशेष वर्णन ध्यान-प्रकरण मे किया गया है क्योंकि अपेक्षा-विशेष से यह ध्यान ही है।

(५) **धर्मकथा**—निश्चित रूप से चिन्तन किया हुआ श्रुत-चरित्र रूप धर्म का तत्त्व जनसाधारण को समझाना **धर्मकथा-स्वाध्याय** है। कथा नाम कहानी का है। दया, दान, क्षमा आदि धर्म के अंगो का वर्णन करनेवाली एवं धर्म की उपादेयता बतलानेवाली कहानी धर्मकथा है। उसके चार प्रकार हैं :—

(१) आक्षेपणी, (२) विक्षेपणी, (३) संवेगनी, (४) निर्वेदनी[1]।

३—चार कथाओं का वर्णन

(१) **आक्षेपणी**—श्रोताजनों को मोह से हटाकर तत्त्वज्ञान की ओर आकर्षित करनेवाली कथा को **आक्षेपणी** कथा कहते है। इसमे स्याद्वाद-ध्वनि से युक्त जैन-सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया जाता है।

नोट—१ स्था० स्था० ४, उ०, २, सू० २८२।

(२) **विक्षेपणी**—श्रोताओं को कुमार्ग से सन्मार्ग में लाने-वाली कथा **विक्षेपणी** कथा है। इसमें सन्मार्ग के गुणो का और कुमार्ग के दोषो का दिग्दर्शन कराकर, सन्मार्ग की स्थापना की जाती है। अन्य दर्शनो का विशेष ज्ञाता-पुरुष ही यह कथा कर सकता है। इसके अलावा इस कथा के वक्ता को श्रोतागण की योग्यता का भी पूरा ज्ञान होना चाहिये, अन्यथा परदर्शन का खण्डन सुनकर लोग निन्दक-निन्दक कहकर हो-हल्ला करने लगेंगे।

(३) **संवेगनी**—जिसके द्वारा कर्मों के विपाको-फलों की विरसता बताकर श्रोताजनों में वैराग्य उत्पन्न किया जाता है, वह कथा **संवेगनी** है। उक्त कथा मे मनुष्यत्व की कदली स्तम्भ के समान असारता, देवत्व में ईर्ष्या, विषाद, भय, वियोग आदि तथा मनुष्य-शरीर का अशुचिपन दिखलाकर श्रोताओं का हृदय वैराग्यमय बनाया जाता है।

(४) **निर्वेदनी**—दुष्कर्मों की भयानकता दिखलाकर, श्रोताओं के दिलों को संसार से उदासीन बना देनेवाली कथा **निर्वेदनी** कही जाती है। इसमे हिंसा, झूठ, चोरी, जारी, आदि दुष्कर्मों से प्राप्त होनेवाले नरकादि दुर्गतियो के दुःखों का एवं अहिसा, सत्य, आदि सत्कर्मों से मिलनेवाले स्वर्ग आदि के सुखो का वर्णन करके, भव्य आत्माओं को संसार से उद्विग्न बनाया जाता है।

४—स्वाध्याय से लाभ

स्वाध्याय से अज्ञान-मोह का पर्दा दूर होता है, एवं निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। सत्-शास्त्रों के वाचन से कर्मों की महा-निर्जरा होती है। प्रति पृच्छा-धर्म चर्चा करने से आत्मा सूत्रार्थों मे निस्सन्देह बन जाती है। परिवर्तन-शास्त्रों की पुनरावृत्ति करते रहने से व्यञ्जना-अक्षर-लब्धि व पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होती है। अर्थात् उसके मति-श्रुत ज्ञान इतने निर्मल हो जाते हैं कि वह एक अक्षर या पद सुनकर समूचा श्लोक व पूरा आलापक सुना देता है। अनुप्रेक्षा का अभ्यास करने से आत्मा कर्मबन्धनो से छूट कर, इस चतुर्गतिरूप संसार-कान्तार को पार करके मुक्तिनगर को प्राप्त होती है तथा धर्मकथा से कर्मनिर्जरा एवं प्रवचन की प्रभावना (शोभा) होती है[१]।

वास्तव में यह सब करना, मन को जीतने के लिये है। दस लाख सुभटो पर विजय पाना उतना कठिन नहीं, जितना कठिन इस दुर्जय मन को जीतना है। एक मन पर विजय पा लेने के बाद, आत्मा त्रिभुवन विजयी बन जाती है, फिर उसके सामने दुश्मन का नाम तक नहीं ठहर सकता।

पूर्वोक्त परिवर्तना स्वाध्याय के अन्दर जो जाप का निर्देश किया है, वह जाप मन को एकाग्र करने का उत्कृष्ट साधन है, लेकिन होना चाहिये विधिपूर्वक।

१—उत्तरा० अ० २९ बोल १८-२३

(५) जाप की विधि—जाप करनेवाले को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की उचितता पर पूरा-पूरा ख्याल करना चाहिये। जैसे—

द्रव्य—जाप के समय पास में रखी हुई चीजें चित्त मे चंचलता पैदा करनेवाली नहीं होनी चाहिये। यदि पहनने के लिये रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्र होंगे, बहुमूल्य रत्नजड़ित आभूषण होगे तथा सूत एवं लकड़ी की माला के बदले सोने-मोती की माला होगी और मुँहपत्ति सादी-सफेद न होकर यदि जरी-जवाहरात युक्त होगी, तो जाप में ध्यान टिका रहना बहुत मुश्किल है।

क्षेत्र—जाप के लिए स्थान भी निर्विघ्न एवं एकान्त होना चाहिये। जहाँ बच्चे कोलाहल करते हों, असभ्य पुरुष अनुचित बातें करते हों, विकारोत्पादक स्त्रियादिक के बीभत्स चित्र हो, आसपास अशुचि पदार्थ पड़े हो एवं मच्छर आदि क्षुद्र जन्तुओं का विशेष उपद्रव हो, तो जाप करनेवाले को ऐसे स्थानों से बचने की कोशिश करनी चाहिये। यद्यपि विशिष्ट योगिराज तो ऐसे स्थानो मे भी अपना ध्यान स्थिर रख सकते है, लेकिन सर्व साधारण के लिए यह बात संभवित नहीं हो सकती।

काल—जाप मे बैठने से पहले साधक को विचार करना चाहिये कि जाप करते समय बीच मे मल-मूत्र की शंका तो नही होगी? छोटे बच्चे आकर तंग तो नहीं करेंगे? कोई बुलानेवाला तो नहीं आयेगा; या कोई आवश्यक काम तो नहीं है? यदि

१—वास्तव में "द्रव्य" जाप ही है, लेकिन व्यवहार मे पास रखी वस्तुएँ भी द्रव्य कहलाती हैं।

उपर्युक्त अड़चने आने की सम्भावना हो तो पहले ही कुछ विवेक से काम लेना चाहिये ताकि पीछे जाप में गड़बड़ी न हो।

यद्यपि जाप हर समय किया जा सकता है, फिर भी अनुभवियों ने प्रातःकाल की सन्धि, मध्याह्न काल की सन्धि और सायंकाल की सन्धि, ये तीन समय ध्यान व जाप के लिए उपयुक्त माने है। इनमें प्रातःकाल की सन्धि (सूर्योदय होते समय) अत्युत्तम है। क्योंकि उस समय वातावरण विशेप शान्त होता है एवं मस्तिष्क ग्रहणशील होता है। खाने-पीने के बाद बुद्धि उतनी स्थिर नहीं रहती, जितनी कि पहले रहती है।

भाव—द्रव्य, क्षेत्र, काल की उपयुक्तता होने पर भी यदि भावना शुद्ध न हो तो वास्तव मे जाप व भजन होता ही नहीं। इसलिये साधक को भाव शुद्धि पर विशेप ख्याल रखना चाहिये। जाप करने से पहले उसे सोचना चाहिये कि मैं जाप किसका, किसलिये और किस तरह कर रहा हूँ। मेरे इष्टदेव सराग है या वीतराग? मेरा लक्ष्य भौतिक है या आध्यात्मिक? मेरे मन वचन काया स्थिर है या चंचल? यदि इष्टदेव कामी क्रोधी हो, लक्ष्य भौतिक सुख हो एवं मन इधर उधर घूमता हो, मुँह से जाप होता हो और हाथ-पैर मस्तकादि वार-वार हिलते हो, तो फिर भजन-जाप मात्र वाह्याडम्बर होगा। उससे आत्म-कल्याण की आशा करना व्यर्थ है।

६—इष्टदेव तथा मन्त्र

जैन सिद्धान्तानुसार वे ही इष्टदेव श्रेष्ठ एवं जाप करने

योग्य है, जो सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन गये हैं या बनने की तैयारी कर रहे है। मन्त्र भी वही उत्तम है, जिसमें ऐसे प्रभु का ध्यान व प्रणमन हो।

यद्यपि मन्त्र अनेकानेक हैं, फिर भी जैन-जगत् में श्री नमस्कार-महामन्त्र सर्वमान्य है। इसको नवकार मन्त्र व परमेष्टि मन्त्र भी कहते हैं। इसकी रचना निम्न प्रकार है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं॥

अर्थ—श्री अरिहन्त भगवान को मेरा नमस्कार हो। श्री सिद्ध भगवान को मेरा नमस्कार हो। श्री आचार्य महाराज को मेरा नमस्कार हो। श्री उपाध्यायजी महाराज को मेरा नमस्कार हो। संसार के सब साधुओ को मेरा नमस्कार हो।

मन्त्र की महिमा

एसो पॅच णमुकारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

अर्थ—यह पंच पदो का नमस्कार रूप महामन्त्र सब पापो का नाश करने वाला है एवं सब मङ्गलों में पहला मङ्गल है।

इस महामन्त्र के पांच पद है और पैंतीस अक्षर है। पहले पद मे सात, दूसरे पद में पाँच, तीसरे पद में सात, चौथे पद मे सात और पाँचवे पद मे नव अक्षर है। इस महामन्त्र मे किसी सम्प्रदाय-विशेप का नाम न होकर, मात्र गुणयुक्त अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं संसार के सब साधुओ को नम-

स्कार किया गया है। पाँचो पदो के सब मिलाकर, एक सौ आठ गुण माने गये है। इसी कारण माला के मनके भी एक सौ आठ रखे गये है। एक सौ आठ गुण इस प्रकार हैं—

अरिहन्तो के बारह, सिद्धों के आठ, आचार्यों के छत्तीस, उपाध्यायों के पच्चीस और साधुओं के सत्ताईस। जाप करने वाले साधक को इन गुणो का विस्तृत ज्ञान होना परमावश्यक है।

७—अ० सि० आ० उ० सा० नमः

यह मन्त्र नमस्कार महामन्त्र का ही एक संक्षिप्त पाठ है। प्रत्येक पद के प्रथम अक्षर से इसका निर्माण हुआ है। मन्त्र साहित्य मे ऐसे मन्त्र बीज-मन्त्र कहलाते है।

जैन समाज मे इस मन्त्र का काफी प्रचलन है। यह बहुत प्रभावक और आपत्तियों का नाशक माना जाता है। प्राचीन किंवदन्ती है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान ने नाग-नागिनी को यही मन्त्र सुनाया था एवं यह उन्हीं की रचना है। इसका नाम "सिद्ध चक्र" मन्त्र है। इसके जाप की भी एक विशेष विधि है। जैसे पहला अक्षर "*अ*" नाभि कमल मे ध्याना चाहिये। दूसरा "*सि*" मस्तक मे, तीसरा "*आ*" मुख कमल में चौथा "*उ*" हृदय कमल में और पाचवाँ "*सा*" कण्ठ मे ध्याना चाहिये। यह विधि कुछ कठिन अवश्य है, किन्तु मन की एकाग्रता का अनुपम मार्ग है।

८—ॐ

ॐ भी नमस्कार महामन्त्र का अति संक्षिप्त रूप है। वैदिक-

मन्त्र साहित्य में तो ॐ का महत्वपूर्ण स्थान है ही, लेकिन जैनाचार्यों ने भी इसको बहुत उत्तम एवं प्रभावशाली माना है।

ॐ का अर्थ आचार्यों ने कई प्रकार से किया है। वैष्णवो के कुछ ग्रन्थ इसे ईश्वर का वाचक कहते है। कुछ ब्रह्मा-विष्णु-महेश का द्योतक बतलाते है, तो कुछ ग्रंथ अधः ऊर्ध्व और मध्य ऐसे तीनो लोको का वाचक कह कर विश्व-ब्रह्माण्ड के लिए इसका उपन्यास करते है परन्तु जैनाचार्यों ने इसे श्री नवकार मंत्र का ही बीज-मंत्र स्वीकार किया है एवं इसकी उत्पत्ति मे यह गाथा रची है—

अरिहंता असरीरा, आयरिय-उवज्झाय-मुणिणो।
पञ्चक्खर निप्पन्नो, ॐकारो पञ्च परमिट्ठी ॥१॥

अर्थ—अरिहंत का "अ" सिद्धो का दूसरा नाम अशारीरी भी है, अतः अशरीरी का भी "अ" आचार्यों का "आ", उपाध्याय का "उ" और साधु का दूसरा नाम मुनि भी है, इसीलिए मुनि का "म" लिया। फिर इन सब की सन्धि मिलान किया, तब ओम् बन गया। जैसे—अ+अ=आ, आ+आ=आ, आ+उ=ओ, ओ+म्=ओम्।

जैन विद्वानों ने ओम् की आकृति ॐ इस प्रकार मानी है। ॐ के ऊपर जो चन्द्र बिन्दु है, उससे यह तत्व निकलता है कि अर्द्ध चन्द्र सिद्धशिला का प्रतीक है एवं बिन्दु सिद्धत्व का द्योतक है। उक्त कल्पना का भाव यह हुआ कि साधक ॐ कार के द्वारा, देव गुरू का स्मरण करता हुआ, अन्त मे सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

९–तीन तरह का जप

जप के मुख्य तीन भेद माने गये हैं—मानस, उपांशु और भाष्य।

मानस जप वह है, जिसमे अर्थ का चिन्तन करते हुए मात्र मन से अक्षरों और पदो की आवृत्ति की जाती है। उपांशु जप में जीभ तथा होठ कुछ-कुछ हिलते है, लेकिन उसकी आवाज अपने कानो तक ही सीमित रहती है तथा भाष्य जप उच्च स्वर से वोल-वोल कर किया जाता है। आचार्यो का कहना है कि भाष्य जप से उपांशु जप का सौ गुना और मानस जप का हजार गुना फल है। साधको को चाहिये कि क्रमशः अभ्यास वढाते हुए वे मानस जप के अभ्यासी वने।

१०–माला और उसकी विधि

वास्तव में माला मन की होनी चाहिये, फिर भी स्मरण शक्ति की दुर्वलता के कारण अधिकाश साधक माला रखा करते है। माला फेरने की वावत कइयों की मान्यता है कि अंगुष्ठ और मध्यमा या अनामिका के द्वारा ही जप होना चाहिये, किन्तु तर्जनी—अंगुष्ठ के पासवाली अंगुली से माला फेरना निषिद्ध है। उनका यह भी कहना है कि एक माला समाप्त करके यदि दूसरी माला फेरनी हो तो सुमेरु को नहीं लांघना चाहिये एवं अन्तिम मनके से ही लौट जाना चाहिये। माला फेरते समय न तो स्वयं हिलना चाहिये और न ही माला को हिलाना चाहिये। फेरते-फेरते माला का गिरना भी अशुभ माना गया है।

११–करमाला (नवकरवाली)

माला फेरने का अधिक अभ्यास हो जाने पर, प्रायः माला फेरते समय मन नहीं टिकता, ऐसी दशा में करमाला का अभ्यास करना चाहिये। करमाला अर्थात् हाथ पर फेरी जानेवाली माला, इसको आवर्त भी कहते है। माला की अपेक्षा इसमे मन का अधिक टिकना संम्भव है। इसकी विधि इस प्रकार है— हाथ मे चार अंगुलियाॅ होती है। अंगूठा काम मे नहीं लिया जाता। एक-एक अंगुली के तीन-तीन पर्व के हिसाव से चार अंगुलियो के वारह पर्व हो जाते है। प्रत्येक पर्व पर एक-एक मन्त्र वोलने से एक आवर्त-फेरणी मे वारह मन्त्रो का जाप होता है एवं नव आवर्त करने से एक सौ आठ मन्त्र की पूरी एक माला हो जाती है। नववार कर अर्थात् हाथ पर फेरी जानेवाली होने से इस करमाला को नवकरवाली भी कहते है।

करमाला से जाप करते समय अंगुलियाँ अलग-अलग नहीं रखी जाती। हथेली थोड़ी-सी मुड़ी हुई रखी जाती है, एवं दाहिने हाथ को हृदय के सामने लाकर अंगुलियो को कुछ टेढ़ा करके फिर शान्तभाव से उन पर जाप किया जाता है।

१२–छह प्रकार के आवर्त

आवर्त छः प्रकार के होते है। उनके नाम इस प्रकार है— (१) आवर्त, (२) शङ्खावर्त, (३) ॐकारावर्त, (४) ह्रींकारावर्त, (५) नन्द्यावर्त, (६) सिद्धावर्त।

(१) आवर्त—यह कनिष्ठा के मूल से शुरू होता है, सर्वप्रथम कनिष्टा का मूल, मध्य और अग्रिम पर्व, फिर क्रमशः अना-

मिका, मध्यमा और तर्जनी का अग्रिम पर्व फिर तर्जनी का मध्य तथा मूल पर्व, फिर क्रमशः मध्यमा—अनामिका का मूल पर्व और अनामिका ।

(२) **शङ्खावर्त**—इसमे दक्षिणावर्त शङ्ख की तरह हाथ की अंगुलियों मे आवर्त-घूमना होता है। यह अनामिका के मध्य

२

पर्व से शुरू होता है। जैसे—सबसे पहले अनामिका का मध्यपर्व, फिर क्रमश. मध्यमा का मध्य और मूल, अनामिका का मूल, फिर कनिष्ठा का मूल मध्य अग्र, अनामिका, मध्यमा और तर्जनी का अग्र, फिर तर्जनी का मध्य और मूल।

३ ॐकारावर्त—इसमें अंक गणना इस प्रकार की जाती है जिससे जैन परिभाषा के ॐकार के दर्शन होने लगते है। यह

३

भी मध्यमा के मध्यपर्व से चलता है, यथा—मध्यमा का मध्यपर्व इसके पश्चात् अनामिका का मध्य और अग्र, मध्यमा का अग्र, तर्जनी का अग्र, मध्य-मूल, फिर मध्यमा अनामिका का मूल एवं अन्त मे कनिष्टा का मूल मध्य और अग्र।

(४) **ह्रींकारावर्त**—इसमें ह्रीं का कुछ भाग दृष्टिगोचर होता है। यह तर्जनी के अग्र पर्व से चलता है। जैसे—सर्वप्रथम तर्जनी,

४

मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा के अग्रपर्व, फिर कनिष्ठा, अनामिका, मध्यमा और तर्जनी के मध्य पर्व तथा फिर तर्जनी, मध्यमा-अनामिका एवं कनिष्ठा के मूलपर्व।

(५) **नन्दावर्त**—यह जैन-शास्त्रोक्त आठ मंगलो में से एक मंगल चिह्न है जो स्वस्तिक से कुछ मिलता-जुलता है। इसमे पर्वो

का आवर्त इस प्रकार होता है जिससे नन्द्यावर्त की-सी कुछ आकृति बन जाती है। इसमे कनिष्ठा छोड़ दी जाती है।

५
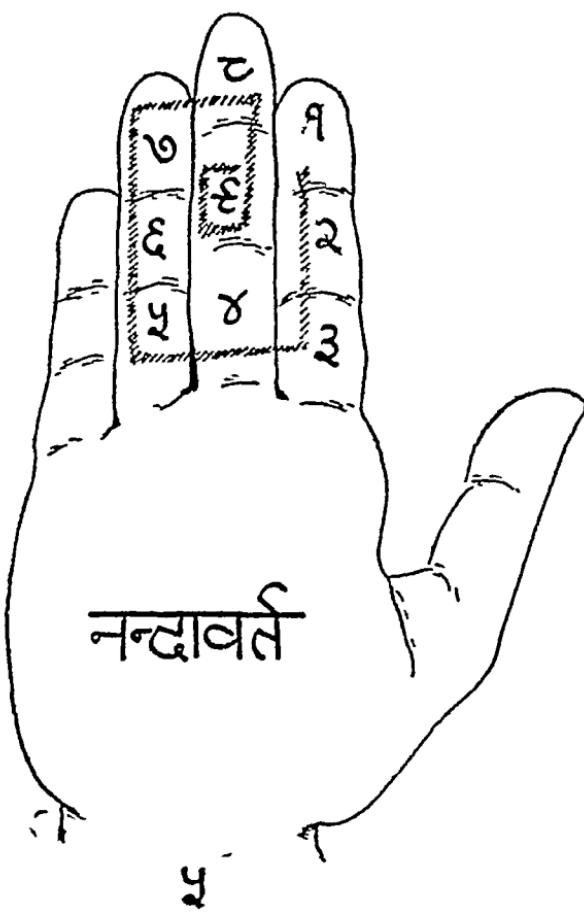
जैसे—तर्जनी का अग्र मध्य-मूल एवं मध्यमा का मूल पर्व। फिर अनामिका का मूल-मध्य अग्र एवं मध्यमा का अग्र और मध्यपर्व।

पहले चार आवर्तो में, एक बार जप को संख्या बारह होती है। अतः नौ बार आवर्त करने से, एक माला पूरी हो जाती है। किन्तु नन्द्यावर्त मे कनिष्ठा छोडने के कारण, एक बार की जप संख्या नौ ही होती है। इसलिए इसके बारह आवर्त करने से एक माला होती है।

सिद्धात्मा
सिद्धशिला
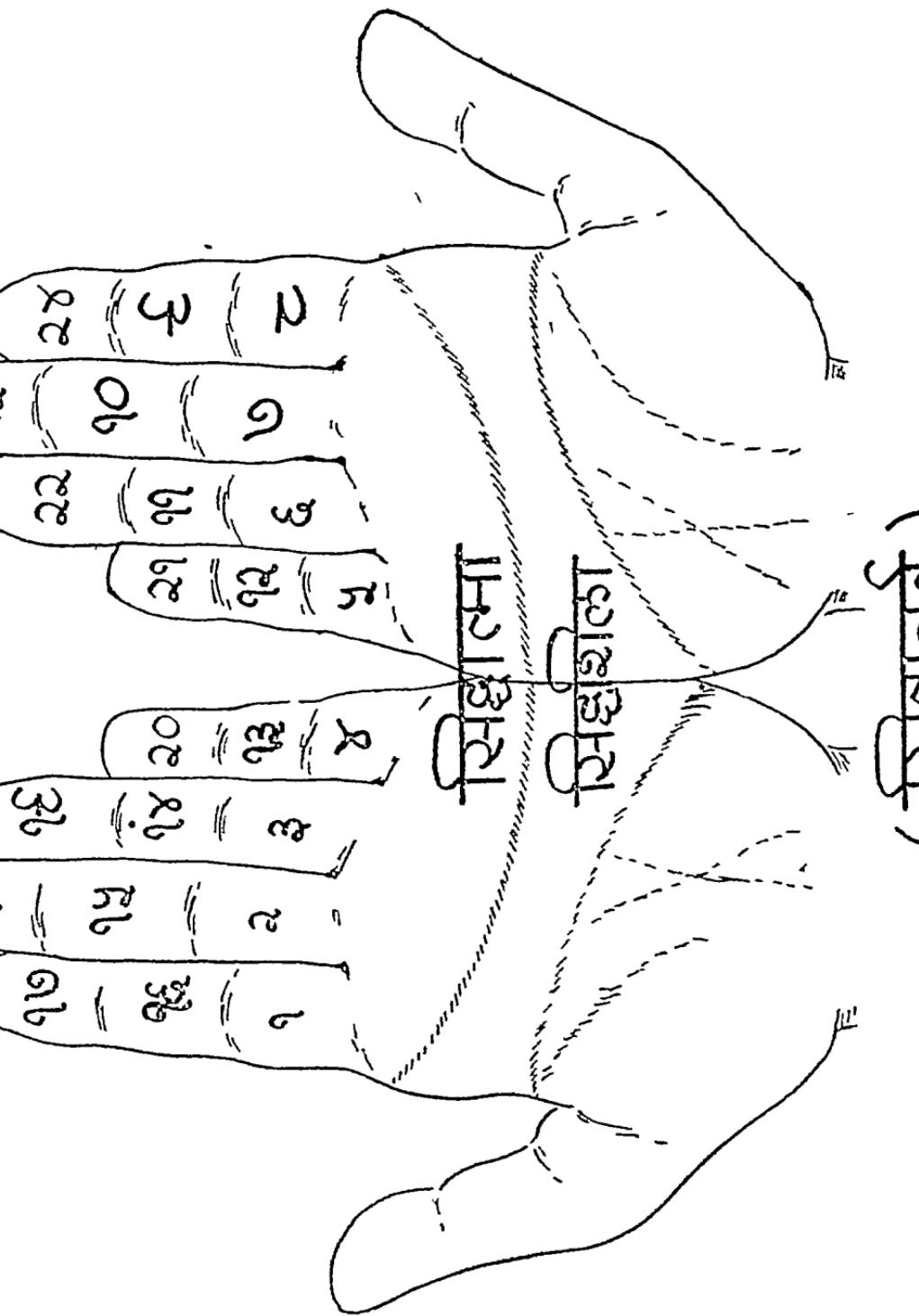
६–सिद्धावर्त—सिद्धावर्त में वर्तमान काल के चौवीस तीर्थङ्कर, जो मोक्ष में सिद्धपद को प्राप्त कर चुके है, उनका ध्यान किया जाता है। दोनों हाथों को सामने खुले रखकर दोनों हाथों की आयुष्य रेखा को वरावर मिलावे, जो सिद्धशिला की आकृति के समान भासित होने लगे। इसके वाद दोनों हाथों की आठो अँगुलियों के चौवीस पर्वो पर चित्र के अनुसार चौवीस तीर्थङ्करों का ध्यान करे। जप करते समय प्रत्येक तीर्थ-ङ्कर का जप इस प्रकार करे कि पहले अंक पर "ॐ ह्रीं श्रीऋषभ देवाय नमः।" दूसरे अंक पर "ॐ ह्रीं श्री अजितनाथाय नमः।" तीसरे अक पर "ॐ ह्रीं श्री सम्भवनाथाय नमः" इत्यादि।

१३–अनुपूर्वी

नमस्कार महामन्त्र के पाँच पद है। उलट-पुलट के रखने पर ज्यादा से ज्यादा उनके एक सौ वीस भागे[1] अर्थात् रूप वन

नोट—भागे वनाने के विषय में यह नियम है कि जितने पद हो उनकी अकों में स्थापना करके, फिर परस्पर उन्हे गुणना। गुणनफल की जितनी सख्या आए उतने ही भागे वनते है। जैसे—यहाँ १-२-३-४-५, ये पाँच अक हैं। अव गुणिये—१×२=२×३=६×४=२४×५=१२० हो गये।

सकते हैं। इसीका नाम अनूपूर्वी है। मन स्थिर करने का यह एक उत्कृष्ट साधन माना गया है।

सीधी माला फेरने में मन इधर-उधर अधिक जाता है जब कि अनुपूर्वी पढ़ते समय उस पर काफी नियन्त्रण हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य करके, कई ग्रन्थकारों ने कहा भी है कि एक बार ध्यानपूर्वक अनुपूर्वी का पाठ करने से छः महीनो की तपस्या का फल होता है।

अनुपूर्वी में बीस खाने होते है एवं एक एक खाने में छः छः मन्त्र होते है। वे इस प्रकार है—

१

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

२

१	२	४	३	५
२	१	४	३	५
१	४	२	३	५
४	१	२	३	५
२	४	१	३	५
४	२	१	३	५

३

१	३	४	२	५
३	१	४	२	५
१	४	३	२	५
४	१	३	२	५
३	४	१	२	५
४	३	१	२	५

४

२	३	४	१	५
३	२	४	१	५
२	४	३	१	५
४	२	३	१	५
३	४	२	१	५
४	३	२	१	५

५

१	२	३	५	४
२	१	३	५	४
१	३	२	५	४
३	१	२	५	४
२	३	१	५	४
३	२	१	५	४

६

१	२	५	३	४
२	१	५	३	४
१	५	२	३	४
५	१	२	३	४
२	५	१	३	४
५	२	१	३	४

७

१	३	५	२	४
३	१	५	२	४
१	५	३	२	४
५	१	३	२	४
३	५	१	२	४
५	३	१	२	४

८

२	३	५	१	४
३	२	५	१	४
२	५	३	१	४
५	२	३	१	४
३	५	२	१	४
५	३	२	१	४

९

१	२	४	५	३
२	१	४	५	३
१	४	२	५	३
४	१	२	५	३
२	४	१	५	३
४	२	१	५	३

१०

१	२	५	४	३
२	१	५	४	३
१	५	२	४	३
५	१	२	४	३
२	५	१	४	३
५	२	१	४	३

११

१	४	५	२	३
४	१	५	२	३
१	५	४	२	३
५	१	४	२	३
४	५	१	२	३
५	४	१	२	३

१२

२	४	५	१	३
४	२	५	१	३
२	५	४	१	३
५	२	४	१	३
४	५	२	१	३
५	४	२	१	३

१३

१	३	४	५	२
३	१	४	५	२
१	४	३	५	२
४	१	३	५	२
३	४	१	५	२
४	३	१	५	२

१४

१	३	५	४	२
३	१	५	४	२
१	५	३	४	२
५	१	३	४	२
३	५	१	४	२
५	३	१	४	२

१५

१	४	५	३	२
४	१	५	३	२
१	५	४	३	२
५	१	४	३	२
४	५	१	३	२
५	४	१	३	२

१६

३	४	५	१	२
४	३	५	१	२
३	५	४	१	२
५	३	४	१	२
४	५	३	१	२
५	४	३	१	२

१७

२	३	४	५	१
३	२	४	५	१
२	४	३	५	१
४	२	३	५	१
३	४	२	५	१
४	३	२	५	१

१८

२	३	५	४	१
३	२	५	४	१
२	५	३	४	१
५	२	३	४	१
३	५	२	४	१
५	३	२	४	१

११

१	४	५	२	३
४	१	५	२	३
१	५	४	२	३
५	१	४	२	३
४	५	१	२	३
५	४	१	२	३

१२

२	४	५	१	३
४	२	५	१	३
२	५	४	१	३
५	२	४	१	३
४	५	२	१	३
५	४	२	१	३

१३

१	३	४	५	२
३	१	४	५	२
१	४	३	५	२
४	१	३	५	२
३	४	१	५	२
४	३	१	५	२

१४

१	३	५	४	२
३	१	५	४	२
१	५	३	४	२
५	१	३	४	२
३	५	१	४	२
५	३	१	४	२

१५

१	४	५	३	२
४	१	५	३	२
१	५	४	३	२
५	१	४	३	२
४	५	१	३	२
५	४	१	३	२

१६

३	४	५	१	२
४	३	५	१	२
३	५	४	१	२
५	३	४	१	२
४	५	३	१	२
५	४	३	१	२

१७

२	३	४	५	१
३	२	४	५	१
२	४	३	५	१
४	२	३	५	१
३	४	२	५	१
४	३	२	५	१

१८

२	३	५	४	१
३	२	५	४	१
२	५	३	४	१
५	२	३	४	१
३	५	२	४	१
५	३	२	४	१

१९

२	४	५	३	१
४	२	५	३	१
२	५	४	३	१
५	२	४	३	१
४	५	२	३	१
५	४	२	३	१

२०

३	४	५	२	१
४	३	५	२	१
३	५	४	२	१
५	३	४	२	१
४	५	३	२	१
५	४	३	२	१

जहाँ १ है वहाँ णमो अरिहंताणं बोलना चाहिये।
जहाँ २ है वहाँ णमो सिद्धाण बोलना चाहिए।
जहाँ ३ है वहाँ णमो आयरियाणं बोलना चाहिए।
जहाँ ४ है वहाँ णमो उवज्झायाणं बोलना चाहिए।
जहाँ ५ है वहाँ णमो लोए सव्व साहूणं बोलना चाहिए।

आज अधिकाश लोग पुस्तकों के सहारे से अनुपूर्वी का जाप करते हैं, लेकिन वे थोड़ा सा परिश्रम करके, यदि अनुपूर्वी बनाने की विधि याद कर लें, तो फिर पुस्तको की परवशता न रहे एवं चाहे जहाँ स्वतन्त्र रूप से जाप करके अत्यधिक एकाग्रता के आनन्द का अनुभव कर सकें।

१४-अनुपूर्वी बनाने की विधि

सबसे पहले ५५, ५४, ५३, ५२, ५१ इन पॉच अंकों की पाँच दुकानें है, ऐसी कल्पना करनी चाहिये। फिर दुकानों के अंको मे से दस-दस घटाकर हर एक के पॉच-पाँच खाने बनाने चाहिए। उपर्युक्त विधि करने से पहली दुकान के ५५, ४५, ३५, २५, १५ इन अंकों के पॉच खाने बनेंगे। ऐसे ही दूसरी दुकान के ५४, ४४, ३४, २४, १४, तीसरी के ५३, ४३, ३३, २३, १३ चौथी के ५२, ४२, ३२, २२, १२ और पॉचवीं के ५१, ४१, ३१, २१, ११ इन अंकों के खाने होंगे। पॉचों दुकानों के सब मिलाकर पच्चीस खाने हो गये। लेकिन अनुपूर्वी के बीस खाने होते है। अतः पच्चीस में से समान अंकों वाले ५५, ४४, ३३, २२, ११, ये पॉच खाने निकाल देने चाहिये। शेष बीस खाने रह जायेगे और उन्हीं के सहारे से अनुपूर्वी का जाप होगा।

एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि दुकानों के अंको के क्रम से ही खानो का उपयोग होगा। जैसे सर्वप्रथम पचपन के अंक की दुकान के चार खाने, फिर क्रमशः चोवन, तिरेपन, बावन, इकावन के अंकों की दुकानो के चार-चार खाने काम मे लिए जायेंगे तथा जिसमे ४५-३५ आदि अंक का खाना होगा वे अंक समूचे खानें मे यथारूप रहेंगे। मात्र पिछले तीन अंको को अदल-वदल कर छः भागे-विकल्प वनाये जायेंगे। अंकों को वदलने की विधि यह है—

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

तीनों अंकों में जो वड़ा होगा, वह तीसरे स्थान में दो वार अर्थात् दो पंक्तियों में लिखा जायगा, फिर मंझला और पहला अंक भी इसी तरह दो-दो वार लिखा जायगा एवं शेष दो अंक एक बार सुलटे और एक वार उलटे लिखे जायेंगे। देखिए ऊपर लिखा हुआ ४५ का खाना। इस खाने के निश्चित अंक ४५ हैं, जो छहों स्थानों पर यथारूप में स्थित हैं। पिछले तीन अंकों मे सबसे वड़ा अङ्क "३" है, वह तीसरे स्थान में दो वार लिखा गया है ; फिर मंझला अंक '२' है वह तीन के नीचे दो वार रखा गया है तथा अन्त मे सबसे छोटा अंक "१" है, वह दो के नीचे दो वार लिखा है। इससे आगे फिर गौर कीजिये। पिछले दो अंक सुलटे-उल्टे रखे गये हैं। जैसे पहली पंक्ति में "१२" है, उन्हें उलटा कर दूसरी पंक्ति में "२१" कर दिया है। ऐसे ही तीसरी पंक्ति में '१३' को '३१' एवं पॉचवीं पंक्ति के '२३' को '३२' किया गया है।

यहाँ सिर्फ ४५ के खाने का उदाहरण दिया गया है, किन्तु इसी विधि के अनुसार वीसों खाने वनाकर मन ही मन अनुपूर्वी का जाप करना चाहिये।

१५–प्रभावशाली स्तोत्र

पूर्वोक्त सभी मन्त्र नवकार मन्त्र के ही रूप है। इनके अति-

रिक्त तीर्थङ्करों के गुणानुवादरूप और भी अनेक स्तोत्र है, जिनमें भक्तामर, कल्याणमन्दिर एवं उपसर्गहर स्तोत्र जैन जगत् मे बहुत ही प्रसिद्ध है। उनका परिचय इस प्रकार है—

श्री भक्तामर स्तोत्र—यह श्री मानतुङ्गाचार्य का बनाया हुआ है। इसमे श्री ऋषभदेव भगवान की स्तुति है। इसके चवालीस श्लोक है। सुना जाता है कि यह स्तोत्र उस समय बनाया गया था, जब श्री मानतुङ्गाचार्य को अडतालीस तालों के अन्दर बन्द कर दिया गया था। वे एक-एक श्लोक बोलते गये और एक-एक ताला टूटता गया। ज्यो ही अड़तालीसवॉ श्लोक बोले, मकान से बाहर आगये। इस समय चार श्लोक अनुपलब्ध है। जो मिलते है वे पीछे से प्रक्षिप्त प्रतीत होते है। यह स्तोत्र बहुत प्रभावशाली है। साधक को इसका पाठ सूर्योदय के समय करना चाहिये, मध्याह्न के वाद निषिद्ध है। इसके पाठ का प्रारम्भ श्रावण, भाद्र, कार्तिक मृगशिर, पौष व माघ मास मे तथा शुक्ल पक्ष की पूर्णा, नन्दा या जया[1] तिथि के दिन करना चाहिये एवं उस दिन उपवास या एकासन करना चाहिए तथा ब्रह्मचारी रहना चाहिए।

श्री कल्याण मन्दिर स्तोत्र—इसमे श्री पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति है, चवालीस श्लोक है एवं यह "श्री सिद्धसेन दिवाकर" का बनाया हुआ है। जनश्रुति के अनुसार यह स्तोत्र उज्जयिनी नगरी के शिव-मन्दिर मे बनाया गया था एवं चम-

---

१—नोट—५-१०-१५ पूर्णा, १-६-११ नन्दा, ३-७-१३ जया।

त्कार से प्रभावित राजा ने जैन धर्म स्वीकार किया था। इसका पाठ पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके सन्ध्या या सोते समय किया जाता है। पाठ का आरम्भ पौष कृष्णा १० से करना चाहिये।

उपसर्गहर स्तोत्र—यह श्रुत केवली "श्री भद्रवाहु स्वामी" का वनाया हुआ है। इससे "वराह मिहिर" देवकृत भीषण उपसर्ग की शान्ति हुई थी। जैनों में इसकी वहुत ज्यादा प्रसिद्धि है। आत्मिक शान्ति एवं उपसर्ग नाश करने के लिए यह स्तोत्र अत्युत्तम माना जाता है।

यह कई प्रकार का मिलता है। किसी में सत्रह गाथाएँ है, किसी में पन्द्रह, किसी में इक्कीस तथा किसी में मात्र पाँच गाथाएँ है। इन सवमे पाँच गाथा वाला स्तोत्र ही मुख्यतया प्रचलित है। वह इस प्रकार है—

उवसग्गहरं पासं, पासं वंदामि कम्मघण-मुक्कं।
विसहरविसनिन्नासं, मंगल कल्लाण-आवासं ॥१॥
विसहरफुलिंगमंतं, कण्ठे धारेइ जो सया मणुओ।
तस्स गह-रोग-मारी—दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥२॥
चिट्ठउ दूरे मन्तो, तुज्झ पणामोवि वहुफलो होई।
नर-तिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्ख-दोगच्चं ॥३॥
तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेण, जीवा अयरामरं ठाणं ॥४॥
इअ संथुओ महायस। भत्ति-भर-निब्भरेण हियएण।
ता देव! दिज्ज वोहिं, भवे-भवे पास जिणचन्द ॥५॥

इस स्तोत्र का बीज मन्त्र निम्नलिखित है—

"ॐ ह्रीं श्रीं नमिउण पास विसहर वसह जिण फुलिंग ह्रीं नमः, श्री भद्रबाहुस्वामि प्रसादात् एष योगः फलतु"। ऐसे कह कर पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके पद्मासन युक्त इस मन्त्र की एक माला फेरनी चाहिये और उसके बाद उपर्युक्त उपसर्गहर स्तोत्र का सताईस बार पाठ करना चाहिए।

१६–आगमों की गाथाएँ

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ।
संति संति करे लोए, पत्तो गइ मणुत्तरं ॥१॥

(उत्तरा० अ० १८)

नमिउण असुर-सुर गरुल-भुयंग परिवंदिय गयकिलेसे।
अरिहे सिद्धायरिया, उवज्झाया सव्वसाहू य ॥१॥

(चन्द्र प्रज्ञप्ति)

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

(दशवै० अ० १)

उपर्युक्त आगमो की गाथाएँ बहुत प्रभावक एवं आत्मिक शान्ति देनेवाली है अतः इनका जाप भी अवश्य करना चाहिए।

१७–जाप में शुद्ध आचरण

भाव शुद्धि तो मुख्य है ही, लेकिन उच्चारण भी बिल्कुल शुद्ध होना चाहिए। आवश्यक सूत्र में उच्चारण सम्बन्धी आठ दोष बतलाए है—

१ व्याविद्ध दोष—पाठ कुछ हो एवं वोलने कुछ और ही लग जाना। जैसे—कई सज्जन 'णमो अरिहंताणं' के स्थान मे अज्ञान व बेपरवाही से 'नमू हरिहंता नंग' वोलते सुने गए है। इसी तरह "एसो पंच णमुक्कारो' की जगह "आ पॉचां री मुँहडो कालो," "करेमि भंते सामाइयं" की जगह 'कर मत्ती समाई' तथा 'दसमो काल' के स्थान मे 'देश में काल-देश में काल' आदि-आदि भी वोलते सुने गये है।

(२). व्यत्यांम्रेडित दोष—एक पद के अक्षर को दूसरे पद के साथ जोड़ लेना। जैसे—"णमो उवज्झायाणं" की जगह "णमोउ वज्झायाणं" अथवा "इम सतगुरु जीवा नैं समझावै" के स्थान मे 'इम सतगुरुजी वानै समझावै" कहना।

(३) हीनाक्षर दोष—मन्त्र मे से अक्षर को ही उडा देना। जैसे—'णमो आयरियाणं' के स्थान मे "णमो आरियाणं" वोलना।

(४) अत्यक्षर दोष —मन्त्र मे किसी अन्य अक्षर को जोड़ देना। जैसे—कई लोग 'उवज्झायाणं' के वदले 'उवज्झारियाणं" वोलने लग जाते है।

(५) पदहीन दोष—जाप करते समय जल्दी मे या असावधानी से समूचा पद उडा देना। जैसे—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए, सव्व साहूणं। यहाँ 'णमो आयरियाणं' छूट गया है।

(६) **विनयहीन दोष**—विनय का अर्थ नम्रता, आदर, भक्ति एवं श्रद्धा होता है, अतः जाप करते समय मन्त्राधिष्ठित देव-गुरु के प्रति पूरापूरा विनय रखना चाहिए, अन्यथा विनय-हीनता का दोष अर्थात् आसातना लग जाती है। इसके सिवा श्रद्धाविनय की शून्यता से किया हुआ जाप फल भी नहीं देता।[१]

(७) **योगहीन दोष**—योग नाम सन्धि का है। मन्त्र के पाठ में अनावश्यक सन्धि कर देना एवं आवश्यक सन्धि को तोड़ देना। जैसे—"लोगस्स उज्जोयगरे" की जगह न हो सकने वाली सन्धि करके "लोगस्सुज्जोयगरे" कहना एवं चउवीसंपि केवली' के बदले आवश्यक संधि को तोड़ कर "चउवीसं अपि-केवली" बोलना।

(८) **घोषहीन दोष**—घोष नाम उच्चारण का है। वह तीन तरह का होता है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वर से बोलना उदात्त घोष है। नीचे स्वर से बोलना अनुदात्त घोष है और मध्यम स्वर से बोलना स्वरित घोष है। मन्त्रो-

---

नोट :—एक जैनी श्रावक और मुसलमान कहीं जा रहे थे। मार्ग में प्यास लगी। मुसलमान ने नवकार मन्त्र पढ़ा, पानी से कुआँ लवालब भर गया। दोनों ने प्यास बुझाई, पता पाकर जैनी ने कहा, बस! यही मन्त्र है क्या? हम तो इसे पीढ़ियों से जानते हैं। एक दिन वह श्रावक पुनः कहीं जा रहा था। प्यासा हुआ, कुएँ पर जाकर मन्त्र पढ़ा, किन्तु पानी ऊपर नहीं आया। आखिर उसे प्राणों से हाथ धोने पड़े। इसका मुख्य कारण श्रद्धा और विनय की कमी थी।

च्चारण में जो पद जिस घोष से वोलना उचित हो, सावधानी-पूर्वक उसीसे वोलना चाहिए, अन्यथा घोषहीन दोष लग जाता है। ह्रस्व उच्चारण के स्थान मे दीर्घ उच्चारण एवं दीर्घ उच्चारण के स्थान में ह्रस्व उच्चारण करने से भी यही दोष लगता है। जैसे—"अरिहंताणं" की जगह 'अरी हंताणं' और "सक्कारेमि" की जगह 'सक्करेमि' वोल जाना।

आवश्यक सूत्र में कहे हुए इन दोषों से वचने का अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिये; किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस तरफ लोग वहुत वेपरवाही रखते है। एक गाव में एक साधु ने सत्ताईस सज्जनो से नवकार मन्त्र सुना, जिनमें चोवीसों का अशुद्ध निकला था। वहुत से लोग "आणं ताणं सेठ वचन परमाणं" का उदाहरण देकर उच्चारण शुद्धि की वात को उड़ा देने की चेष्टा करते है। परन्तु यह उड़ाने की वात न होकर पूर्णतया ध्यान देने की वात है।

अशुद्ध उच्चारण से कई वार नुक्सान भी हो जाता है। जैसे—किसी ब्राह्मण की स्त्री वीमार थी। उसने उसे ठीक करने के लिए 'भार्यां रक्षतु भैरवी।" ऐसे चण्डिका देवी का जाप शुरू किया, लेकिन वोलता-वोलता 'रक्षतु' की जगह 'भक्षतु' वोलने लगा। नतीजा यह हुआ कि स्त्री स्वस्थ होने के वदले मर गई।

१८—अखण्ड जाप

अमुक निश्चित समय तक दिनरात लगातार जाप करते रहना, उसे खण्डित न होने देना, अखण्ड जाप कहलाता है।

धर्मोत्साह की वृद्धि के लिए यह एक उत्तम साधन है। पर्युषणादि पर्वों के समय सामूहिक रूप से यह अवश्य करना चाहिये। भजन करने वालों की संख्या अधिक तो चाहे कितनी ही हो, पर कम से कम दो तो होनी ही चाहिए, कारण रात के समय अकेले को कदाचित् नींद आ जाय तो जाप खण्डित होने का भय रहता है।

अखण्ड जाप में, जाप के मन्त्रो की गणना करने के लिए कई लोग लवंग रखते है। किन्तु यह उचित नहीं लगता क्योंकि जाप के समय प्रायः सामायिक करना ही चाहिए और सामायिक में लवंगों को उठाना एवं रखना अनुचित है। इसके सिवा जो लवंग रखते है, वे जाप पूरा हो जाने के बाद उनको शुभ मानकर घर-घर बाँटते भी है। कई बार किसी को नहीं मिलने से या कम मिलने से आपस में झगड़ा होता भी देखा गया है। वास्तव में उन लवंगों को शुभ मानना अज्ञान का परिणाम है।

१६—अखण्ड जाप में उपयुक्त मन्त्र

सब मन्त्रो का राजा नमस्कार महामन्त्र है, इसलिए इसका जाप तो सर्व सम्मत है ही फिर भी ऋषभ प्रभु, शान्ति प्रभु, पार्श्व प्रभु, महावीर प्रभु आदि किसी एक तीर्थङ्कर का या अपने परमोपकारी सद्गुरु का जाप भी किया जा सकता है। जैसे— दीपमालिका के प्रसंग पर भगवान महावीर का एवं भाद्र शुक्ला तेरस के दिन श्री भिक्षु स्वामी का स्मरण किया जाता है।

वास्तव में जिस किसी इष्टदेव को लक्ष्य करके जाप खोला जाय, उसीका स्मरण करना उपयुक्त है।

२०—आसन

जाप व ध्यान में आसन का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। यदि उपयुक्त आसन से स्थिर होकर ध्यान किया जाये तो अत्यधिक सफलता मिल सकती है। वास्तव में सुखपूर्वक सजग होकर बैठने का नाम आसन है। जिस किसी भी आसन से जिसकी चितवृत्ति स्थिर हो जाय, उसके लिए वही आसन उत्तम है। फिर भी आगमों मे व योगशास्त्र आदि प्राचीन जैन ग्रन्थों में अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन मिलता है। उनमें से कति-पय आसन ये है—

पर्यङ्कासन—दोनों पैर घुटनों के नीचे हों, हाथ नाभि के पास हो, वायें हाथ पर दाहिना हाथ उत्तान रखा हो तो उसे पर्यङ्कासन व सुखासन कहते है। श्री ऋषभ, अरिष्टनेमि और महावीर ये तीनो तीर्थङ्कर इसी आसन से ध्यान करते हुए मोक्ष पधारे थे।

कायोत्सर्गासन—खड़े होकर दोनों भुजाओं को घुटनों की ओर लटका कर विल्कुल सीधा रखना। दोनों पैरों के पंजो के वीच में मात्र चार अंगुल का अन्तर रखना और दोनों एड़ियों के वीच चार अंगुल से कुछ कम अन्तर रखना कायोत्सर्गासन है। इसका दूसरा नाम "जिन मुद्रा" भी है। इक्कीस तीर्थङ्करों का निर्वाणगमन इसी आसन से हुआ था।

जिन-कल्पिक साधु तो उक्त आसन खड़े-खड़े ही करते है। लेकिन स्थविर-कल्पिक मुनि बैठे-बैठे एवं विशेष परिस्थिति में लेटे-लेटे भी कर सकते है।

वीरासन—कुर्सी पर बैठे हुए व्यक्ति के नीचे से कुर्सी खींच ली जाय और वह यथावत् बैठा रहे तो उसे वीरासन कहते है। वीरासन का यह स्वरूप काय-क्लेश तप के प्रकरण मे आया है। यह आसन साध्वियों को करना नहीं कल्पता।

उत्कटिकासन—पैर के तले तथा एड़ी जमीन पर लगाकर ऊकड़ा बैठना उत्कटिकासन है। अगर एड़ी उठाकर सिर्फ पंजों पर बैठा जाय तो यही आसन **गो-दोहासन** कहलाता है। पड़िमाधारी साधु-श्रावकों के लिए इन आसनों का विधान किया गया है तथा भगवान महावीर को इन्हीं आसनों से ध्यान करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था।

सिद्धासन—बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के वीच में रखना। फिर दाहिने पैर को जननेन्द्रिय के मूल पर रख कर ठुड्डी को हृदय मे लगा लेना और शरीर को विल्कुल सीधा रखकर दोनों भौहो के वीच में दृष्टि स्थापन करके निश्चल भाव से वैठ जाना **सिद्धासन** कहलाता है।

वद्धपद्मासन—वायीं जाँघ पर दाहिना पैर और दाहिनी जांघ पर वायाँ पैर रख कर दोनो हाथो को पीठ की ओर घुमा-कर वॉयें हाथ से वाये पैर का अॅगूठा एवं दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अॅगूठा पकड़ लेना तथा ठुड्डी को छाती मे टिका कर

दृष्टि को नाक की नोक पर जमा लेना **बद्धपद्मासन** कहा जाता है।

आम्रकुब्जासन—इस आसन में आम की तरह कुबड़ा होकर बैठा जाता है। भगवान महावीर ने इसी आसन से ध्यान करते हुए एक रात्रि की बारहवीं भिक्षु प्रतिमा स्वीकार की थी। उसमें संगम देव ने भीषण वीस उपसर्ग किये थे।

यहाँ थोड़े से आसनों का परिचय दिया गया है। इसी तरह शीर्षासन, दण्डासन, हंसासन, मयूरासन, वृश्चिकासन आदि भी गुरुगम से समझ लेने चाहिए। सभी आसनों मे मेरुदण्ड—रीढ़ की हड्डी का सीधा रहना परमावश्यक है। पहले पहल आसन करने से थकावट, शरीर मे दर्द एवं कुछ बेचैनी सी मालूम होती है; किन्तु अभ्यास होने के बाद आनन्द और शान्ति का अनुभव होने लगता है।

दूसरा मार्ग

•

ध्यान

•

१—ध्यान का स्वरूप

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाम ध्यान है ; अथवा ध्यान वह क्रिया है जिसका परिणाम ज्ञान होता है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिए ध्यान की परम आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान कार्य है और ध्यान उसका कारण है।

अपनी जागृत अवस्था में हमें विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होता रहता है। उनमें कुछ वस्तुऍ चेतना के विशेष केन्द्र पर होती हैं। कुछ उसके आसपास घूमती हैं और कुछ उसके किनारे पर रहती है। जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश विशेप केन्द्रित होता है, वह वस्तु ध्यान का विषय कही जाती है एवं प्रकाश का केन्द्रित होना ध्यान कहा जाता है।

२—ध्यान में विषयों की गौणता-मुख्यता

साधारण अनुभव के अनुसार हमारा ध्यान का विपय गौणता-मुख्यता के रूप में वदलता ही रहता है। मुख्य विषय कभी गौण हो जाता है और गौण विषय मुख्य हो जाता है। जैसे—गेंद खेलते समय खिलाड़ी के ध्यान का मुख्य केन्द्रित विषय गेंद होती है और खेलनेवाले साथी तथा खेल के नियम गौण होते है। किन्तु खेल मे किसी भी प्रकार का विघ्न होते

ही खिलाड़ी का ध्यान गेंद से हटकर साथियों पर या खेल के नियमों की स्खलना पर केन्द्रित हो जाता है।

३——ध्यान की विशेषताएँ

प्रयत्नशीलता—मन को एकाग्र करने में ध्यानी को प्रयत्न अवश्य करना पडता है, फिर वह चाहे जानबूझकर किया जाय या सहज ही मे हो जाय। सहज में होनेवाले प्रयत्न की अपेक्षा जानबूझ कर किए जानेवाले प्रयत्न मे शक्ति अधिक खर्च होती है एवं थकावट ज्यादा आती है। किसी अनुभवी योगी ने कहा भी है—"उत्तमा सहजा वृत्तिः" अर्थात् स्वाभाविक वृत्ति सर्वोत्तम है। सज्जित सैनिको की तरह ध्यानी पुरुषो के अंग कड़े-तने हुए होते है। ढीले-ढाले अंगवालों का ध्यान अधिक स्थिर नहीं रहता। अतएव लेटे हुए मनुष्यो की अपेक्षा वैठे व खड़े मनुष्यों का ध्यान विशिष्ट माना गया है।

विश्लेषणात्मक मनोवृत्ति—ध्यान की अवस्था में मनुष्य की मनोवृति वस्तु का विश्लेपण करके उसके सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान करती है! जैसे—दूर से हवाई जहाज को देखते समय पहले चील पक्षी का सा भान होता है, फिर उसके अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान होता है और फिर वह कैसे वना, कव वना, किसने वनाया आदि-आदि प्रश्नों पर विचार किया जाता है।

परिवर्तनशीलता—ध्यान परिवर्तनशील होता है। वह एक एक विपय के एक ही पहलू पर अधिक देर तक नहीं टिक सकता।

यदि हम किसी एक चित्र पर ध्यान केन्द्रित करेंगे तो क्षण-क्षण में उस चित्र सम्बन्धिनी नई-नई विशेषताओ का स्फुरण होता रहेगा। जब नवीनता समाप्त हो जायेगी तो मन इधर-उधर भागने लग जायगा। जिस व्यक्ति को जिस विषय का गहरा ज्ञान होगा, उस विषय पर वह व्यक्ति उतना ही अधिक ध्यान कर सकेगा। बालक ज्यादा देर तक ध्यानस्थ नहीं हो सकता, इसका मुख्य कारण यही है कि उसमें गहरा ज्ञान नहीं होता।

लक्ष्यपूर्णता—ध्यान की क्रिया लक्ष्यपूर्ण होती है। किसी भी विषय का ध्यान व्यक्ति अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए करता है। लक्ष्य जितना भी विकसित एवं पवित्र होगा, ध्यान उतना ही शुद्ध एवं सुदृढ़ होगा।

४—ध्यान के बहिरङ्ग कारण

वहिरङ्ग कारणों में सर्वप्रथम कारण है, "उत्तेजना की प्रबलता।" प्रबल उत्तेजना ध्यान को खींच लेती है। जैसे—प्लेटफार्म पर कितना ही हल्ला-गुल्ला क्यो न हो, रेल की सीटी मुसाफिर का ध्यान फौरन खींच लेती है। वच्चे का जोर से चिल्लाकर रोना, माता का आवश्यक कार्य तत्क्षण छुडा देता है। रंग-विरंगे व भड़कीले वस्त्र दर्शक का ध्यान तत्काल आकृष्ट कर लेते हैं। इसी तरह अत्युग्र सुगन्ध-दुर्गन्ध, मनुष्य को तुरन्त चौंका देती है।

ध्यान आकृष्ट करने मे दूसरा वहिरङ्ग कारण है, 'परिवर्तन'। चलती हुई घड़ी या गाड़ी, अचानक रुकते ही, उत्तेजना की कमी

होने पर भी मनुष्य को अपनी तरफ खींच लेती है, कारण एकाएक परिवर्तन होता है।

आकर्षण का तीसरा कारण है, **"विषय की नवीनता"**। पुराने विषय की अपेक्षा नये विषय में ध्यान अधिक टिकता है, क्योंकि नवीन वस्तु को समझने के लिए मन में उत्सुकता अधिक रहती है। इसलिए व्याख्यान में वक्ता नए-नए हेतु-दृष्टान्त उपस्थित करते हैं।

आकर्षण का चौथा कारण है, **"विरोध"**। धीरे-धीरे बोलता हुआ वक्ता यदि अचानक बीच मे जोर से बोल जाता है तो आवाज में विरोध होने के कारण, श्रोतागण एकदम सजग होकर उसकी ओर देखने लग जाते हैं। गाधीजी की लंगोटी इसलिए विशेप आकर्पक थी कि वे राजनीतिक-गृहस्थ थे। यदि वे संन्यासी होते तो उस लंगोटी का इतना आकर्षण शायद नहीं होता।

आकर्पण का पांचवाॅ कारण है, **"गतिशीलता"**। स्थिर पदार्थ की अपेक्षा गतिमान् पदार्थ अधिक आकर्पित करता है। अतएव ध्यान स्थिर करने के लिए चलती-फिरती, तैरती व उड़ती कल्पनाएॅ विशेप लाभप्रद मानी गई हैं।

५—ध्यान के अन्तरङ्ग कारण

ध्यान का अन्तरङ्ग कारण एक मात्र मनुष्य की रुचि है। रुचि दो प्रकार की होती है—जन्मजात और अर्जित।

जन्मजात रुचि—इसका कारण मूल प्रवृत्तियाँ-स्वाभाविक व परंपरागत मानसिक संस्कार हैं। प्रत्येक प्राणीका ध्यान उस ओर अधिक जाता है जिस ओर मूलप्रवृत्तियाँ उत्तेजित होती हैं। जिन वस्तुओ मे उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ उत्तेजित होती है, उनमे उसकी स्वभाव से ही रुचि हो जाती है। माता का ध्यान वच्चे का रोना सुनते ही आकृष्ट हो जाता है, इसका अन्तरङ्ग कारण सन्तान प्रेम की मूलप्रवृत्ति का उत्तेजित होना है। वंशपरम्परा-गत मानसिक संस्कार भी मनुष्य की रुचि को विशेप ढङ्ग की बना देते हैं। जैसे—पक्षी के वच्चे उड़ने में, मत्स्य के वच्चे तैरने मे, क्षत्रियपुत्र युद्ध करने मे, व्राह्मणपुत्र पढ़ने-लिखने में और चाण्डालपुत्र सफाई करने मे रुचि रखते है।

अर्जित रुचि—जन्मजातरुचि जो कि वातावरण के प्रभाव से वदल जाती है, उसे अर्जित रुचि कहते हैं। जैसे—कई-कई व्राह्मणपुत्रों मे युद्ध की रुचि व चाण्डाल पुत्रों मे पढने की रुचि देखी जाती है, वह वातावरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई समझनी चाहिये। अर्जितरुचि के कारण विचार, वासनाएँ, स्थायीभाव व आदत हैं। चरित्र इन सवसे मिलकर वनता है।

मनुष्य की रुचि उसके विचारो के साथ-साथ वदलती है एवं तदनुसार उसके ध्यान का विपय भी वदलता है। जव विचारो द्वारा मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन होता है तव वासनाएँ अर्थात् अपने लक्ष्य की ओर दौडनेवाली उमंगे उत्पन्न होती हैं। जव वे दौडती-दौड़ती लक्ष्य मे स्थिर होने लगती है, तव स्थायी-

भावों की उत्पत्ति होती है। वासनाएँ ध्यान को उस ओर ले जाती है, जहाँ उन्हे तृप्ति की सम्भावना होती है। स्थायीभाव, ध्यान मे जुड़ी हुई उन वासनाओं का नियमन करते है यानी उन्हें वहाँ स्थिर रखते है। स्थायीभावों के रहने पर मनुष्य कठिन से कठिन विषय में लम्बी देर तक ध्यान कर सकता है।

आदत—मनुष्य जैसी भी आदत डालनी चाहे डाल सकता है। आदत पड़ जाने के बाद कठिन काम भी सरल हो जाता है। अधिक पढ़ना मुश्किल है, लेकिन पढ़ने की आदतवाले पाँच-पाँच सौ पृष्ठो की पुस्तके एक-एक दिन मे पढ़ लेते है। प्रारम्भ में ध्यान करना कठिन प्रतीत होता है, किन्तु आदत पड़ने पर वही ध्यान सुगमता से होने लगता है।

६—ध्यान के प्रकार

ध्यान दो प्रकार का होता है—अनिच्छित और इच्छित।

अनिच्छित ध्यान दो प्रकार का है :—सहज और बाध्य।

अनिच्छित-सहज ध्यान—वह है जिसमे हमारा सहज-स्वभाव अर्थात् जन्मजात प्रवृत्तियाँ काम करती है। जैसे—बच्चो का ध्यान खेलकूद मे रहता है। वहाँ उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, उन्हें इच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

अनिच्छित-बाध्य ध्यान—यह इच्छा न होते हुये भी उत्तेजना की प्रबलता से बाध्य होकर करना पड़ता है। जैसे—विद्यार्थी

पढने में निमग्न है, अचानक कोई आदमी उसका द्वार खटखटाने लगता है तो इच्छा न होने पर भी उस तरफ ध्यान लगे बिना नहीं रहता। यह अनिच्छित वाध्य ध्यान कभी-कभी अन्तर्मन की उत्तेजना से भी होता है। जैसे—मन में चिन्ता होने पर कई वार रात को नींद नहीं आती। उस समय अनेक ऊट-पटॉग बातें याद आने लगती हैं। उन्हें ज्यों-ज्यों भूलने की कोशिश की जाती है, उन पर दूना-दूना ध्यान जाता है।

इच्छित ध्यान के दो भेद है—प्रयत्नात्मक और निष्प्रयत्नात्मक।

प्रयत्नात्मक-इच्छित-ध्यान—जीवन का प्रत्येक कार्य इच्छित ध्यान से होता है, फिर चाहे वह प्रयत्नात्मक हो या निष्प्रयत्नात्मक। जब हम किसी नये विपय का अध्ययन करते हैं तो उसमें हमें प्रयत्न के साथ ही ध्यान लगाना पड़ता है। यद्यपि वार वार मन इधर-उधर भागता है, लेकिन हम उसे वल-पूर्वक पठन कार्य में लगाते हैं।

निष्प्रयत्नात्मक इच्छित-ध्यान—किसी एक इच्छित विपय पर प्रयत्नपूर्वक ध्यान करते-करते जब अधिक अभ्यास हो जाता है, तब उसमे विशेप प्रयत्न नहीं करना पड़ता एवं सहज रूप में ही ध्यान होने लगता है। प्रयत्नात्मक-इच्छित ध्यान में इच्छा-पूर्वक ध्यान करना पड़ता है और निष्प्रयत्नात्मक-इच्छित-ध्यान मे पहले किया हुआ प्रयत्न अभ्यास रूप वन कर काम करता है।

७—ध्यानसिद्धि के उपाय

इच्छित-ध्यान प्रारम्भ मे सुदृढ नहीं होता, उसके साथ सहज

ध्यान का सम्बन्ध जोड़ना परमावश्यक है। जैसे—बालकों का ध्यान पुस्तक पढ़ने में नहीं लगता, किन्तु चित्र देखने में उनकी स्वभावतः रुचि होती है ; अतएव उन्हें पढ़ाने के लिये प्रारम्भिक पुस्तकों में कौआ, गाय, घोड़ा आदि के चित्र दिये जाते है और उनके आधार से बच्चों को क, ख, ग, घ आदि अक्षर पढ़ाये जाते हैं।

रुचि की वृद्धि होने से भी ध्यान विशेष लगता है। जैसे—बच्चे खेल-कूद में रहते है, किन्तु परीक्षा का समय आते ही रात-दिन एक करके पढ़ने में लग जाते है कारण उत्तीर्ण होने की रुचि में वृद्धि हो गई।

विषय के परिवर्तन से भी ध्यान अधिक एकाग्र होता है। इसलिए पाठशालाओं मे घण्टे-घण्टे के बाद पढ़ाई का विषय बदला जाता है। नेपोलियन का कहना था कि "काम का बदल देना ही आराम है।"

ध्यान मे जो विक्षेप उत्पन्न होते हैं, उन्हें हठ द्वारा हटाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। उनका या तो मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से विश्लेषण करने लग जाना चाहिये या उसके प्रति उदासीन वृत्ति कर लेनी चाहिये।[१]

नोट : १—उपर्युक्त ध्यान का वर्णन सरल मनोविज्ञान के आधार से किया गया है।

८—जैन आगमानुसार ध्यान और उसके प्रकार

किसी एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करने व योगो को रोकने का नाम ध्यान है।[1] छद्मस्थों के ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मानी गई है, किन्तु उसका यदि एक वस्तु से दूसरी वस्तु मे संक्रमण हो जाय तो अन्तमुहूर्त्त से अधिक भी रह सकता है। वीतराग भगवान का ध्यान योगनिरोधरूप होता है।

सामान्यतया ध्यान के चार भेद है[2]—(१) आर्त्तध्यान (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान।

९—आर्त्तध्यान

दुःखी प्राणी का ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है अथवा ऋत नाम दु:ख का है, अतः दुःख मे होनेवाला या दु:ख के कारण से होनेवाला ध्यान भी आर्त्तध्यान ही है।

१०—आर्त्तध्यान के चार प्रकार

(१) **अमनोज्ञवियोग चिन्ता**—अप्रिय वस्तु का संयोग हो जाने पर उसके वियोग के लिये आतुर होना। जैसे—अविनीत पुत्र, पुत्र-वधू या अयोग्य पडोसी आदि के मिल जाने पर उनका वियोग सोचना कि ये दुष्ट कहीं दूर चले जाएँ तो अच्छा हो।

१—एकाग्रचिन्ता योगनिरोधो वा ध्यानम्।

(जैन सिद्धान्त दीपिका)

२—स्था० स्था०४।३।१ सूत्र २४७

(२) **मनोज्ञसंयोग चिन्ता**—प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उनकी पुनः प्राप्ति के लिये तडफना। जैसे—पुत्रादि, स्वजन या धन-सम्पत्ति आदि के विरह काल में दुनियावी लोग उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिये तड़फा करते है।

(३) **रोग चिन्ता**—ज्वर, शिरः शूल, अक्षिशूल, उदरशूल आदि रोग पैदा हो जाने पर उनकी निवृत्ति के लिये विवेक भूलकर पागल-सा वन जाना एवं अनुचित उपायों का सहारा लेने को तत्परता दिखलाना।

(४) **निदान**—भोगोपभोग की प्राप्त सामग्री कहीं चली न जाय ऐसे चिन्तन करते रहना अथवा भविष्य मे उसकी प्राप्ति के लिये निदान (नियाणा) करना। जैसे—देवेन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के समान समृद्धि पाने के लिये कई जीव मोहवश संकल्प करके अपने पवित्र तप-संयम को वेच देते है। सभी वासुदेव पूर्व जन्म मे से निदान करके आते है तथा चक्रवर्त्तियो मे "ब्रह्मदत्त" की तरह कोई-कोई निदान किये हुए होते है—

११—आर्त्तध्यान के चार लक्षण

(१) चिन्ता—शोक करना।

(२) परिदेवन—अश्रुपात करना अर्थात् आँसू वहाना।

(३) आक्रन्दन—विलाप करना यानी जोर-जोर से चिल्ला कर रोना।

(४) ताड़ना—छाती मस्तक आदि पर प्रहार करते हुये रोना।

आर्त्तध्यान छट्ठे गुणस्थान तक माना गया है। वड़े-वड़े ज्ञानि-मुनियों को भी यह गौतम स्वामी की तरह मोह निमग्न वना देता है।

१२–रौद्र ध्यान

हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार करनेवाले का चित्त क्रूर होता है, अतः उसे रुद्र कहते है। रुद्र प्राणी का ध्यान-विचार रौद्र ध्यान है। उसके चार भेद है—(१) हिंसानुवन्धी, (२) मृषानुवन्धी, (३) चौर्यानुवन्धी, (४) संरक्षणानुवन्धी।

(१) हिंसानुवन्धी—प्राणियों को मारने-पीटने सम्बन्धी चिन्तन करना या मारना-पीटना हिंसानुवन्धी रौद्र ध्यान है।

(२) मृषानुवन्धी—दूसरो को कष्ट पहुँचाने वाले एवं ठगने वाले अनिष्ट वचन बोलना। सत्य अर्थ को छिपानेवाले व असत्य अर्थ को प्रगट करनेवाले वचनो का प्रयोग करना अथवा तद्विषयक विचार करना मृषानुवन्धी रौद्र ध्यान है।

(३) चौर्यानुवन्धी—चोरी लूट-खसोट आदि किसी भी उपाय द्वारा दूसरे की वस्तु को ग्रहण करना व उस विषय का चिन्तन करना चौर्यानुवन्धी रौद्र ध्यान है।

(४) संरक्षणानुवन्धी—शब्दादि विषयों के साधनभूत धन आदि वस्तुओ की रक्षा के लिये अत्यन्त व्याकुल रहना तथा तद् विघ्नकारी व्यक्ति को मारने के विचार मे निमग्न रहना संरक्षणानुवन्धी रौद्र ध्यान है।

१३–रौद्रध्यानी जीव के लक्षण

रौद्रध्यानी जीव हिंसा आदि किसी एक पाप में या सभी पापो मे आसक्त रहता है। वह अज्ञानवश हिंसा आदि पाप कार्यों मे धर्म भी मानता है एवं मरणान्त समय मे भी उन कृत पापो का पश्चात्ताप नहीं करता। इसके अलावा वह दूसरे को दुःख देकर या उसे दुःखी देखकर प्रसन्न होता है। दुष्कर्म करते उसे आनन्द का अनुभव होता है। उसे न तो इस लोक का डर होता है और न परलोक का डर होता है। उसके मन मे अनुकम्पा तो लेश मात्र भी नहीं होती। रौद्रध्यान भी छठे गुणस्थान तक हो सकता है। जो पुलाकलब्धि वाले मुनि चक्रवर्ती की विशाल सेना को क्रोधवश मृतप्राय कर देते है तथा तेजोलब्धिधर साधु साढ़े सोलह देशो को अपने तेज से भस्मीभूत बनाने के लिये तत्पर हो जाते है, उस वक्त उनमे रौद्र ध्यान होता है। अगर उक्त पापों का प्रायश्चित्त किये वगैर मर जाते हैं तो वे महामुनि चारित्र के विराधक कहलाते है। अस्तु।

१४–धर्मध्यान की व्याख्या

जिन पवित्र क्रियाओं से आत्मिक शुद्धि की साधना हो, उन क्रियाओं का नाम धर्म है,[१] धार्मिक क्रियाओं मे मन की एकाग्रता करना यानी धर्म सम्बन्धी विचार करना धर्म ध्यान है।[२] जैसे—सूत्रार्थ की साधना करना। अणुव्रत-महाव्रत का

१—आत्मशुद्धिसाधनं धर्म —जैनसिद्धान्तदीपिका प्र० ८ सू० २३

२—दशवैकालिकवृत्ति अ० १

निरतिचार पालन करना। वन्ध, मोक्ष एवं जीवों की गति आगति का विचार करना, इन्द्रिय-विषयों से निवृत्त होने की भावना रखना तथा हृदय में दया भाव रखना आदि आदि।

१५—धर्म ध्यान के प्रकार

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं[1]—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय, (४) संस्थानविचय।

(१) **आज्ञाविचय**—निर्णय या विचार करने का नाम विचय है। वीतराग भगवान की आज्ञा के विपय मे निर्णय एवं विचार करने के लिए चिन्तन करना, आज्ञाविचय-धर्मध्यान है। जैसे—भगवान की क्या-क्या आज्ञाएँ है ? उनका मेरे जीवन से क्या सम्वन्ध है ? मैं किन-किन आज्ञाओ का पालन कर सकता हूँ ? दूसरे मत प्रवर्तको की अपेक्षा वीतराग वाणी मे क्या विशेपता है आदि-आदि जिज्ञासात्मक विचार करना। कोई गम्भीर तात्त्विक विषय समझ मे न आने पर भी डावाँडोल न होकर ऐसे विचार करना कि "तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं" अर्थात् वही सत्य एवं निसंशय है जो सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, ज्ञान की अल्पता के कारण मेरे समझ मे चाहे न भी आए।

एकान्त कल्याणकारी प्रभु के उपदेशों का स्मरण-चिन्तन करना, यथा सम्भव उन्हे पालने मे उद्यत होना एवं आत्मिक दुर्वलतावश नहीं पाले जा सकने का पश्चात्ताप करते रहना भी आज्ञाविचय धर्म के ही अन्तर्गत है।

१—स्था० स्था० ४ उ० १ सू० २४७।

(२) **अपायविचय**—अपाय का अर्थ दुर्गुण एवं दोष है। अनादि काल से आत्मा के साथ रहे हुए मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग आदि दुर्गुणो के स्वरूप का निर्णय करके उनसे छूटने का उपाय सोचना अपायविचय धर्मध्यान है। जैसे—मेरे मे क्या-क्या दुर्गुण है ? क्रोधादि कषाय की मात्रा कितनी है, पूर्वापेक्षा बढ़ी है या घटी ? कर्म बन्धन क्यो होता है ? इसके क्या-क्या कारण हैं ? इनसे कैसे छूट सकता हूँ आदि-आदि विचार करना। तथा जन्म-मरण की आग मे जलते हुए संसारी जीवो को देखकर दयार्द्र होना और इन बेचारों के कर्म बन्धन जल्दी से जल्दी कब टूटें व चौरासी के चक्कर से निकल कर ये कब शाश्वत सुखों के अनुभवी बने, ऐसी शुभ कामना करते हुये उन्हें धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना भी इसी मे है।

(३) **विपाकविचय**—कर्मो के फल को विपाक कहते हैं, अतः ज्ञानावरणीयादि कर्मो के फलो के विषय मे विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है। जैसे—किस कर्म का क्या फल है ? फल तीव्र-मन्द कैसे होता है ? कौन सा कर्म कितने समय तक एवं कितने समय के बाद फल दिखलाता है ? ज्ञान को कौन सा कर्म रोकता है ? आत्मिक सुखो मे कौन सा कर्म बाधा डालता है ? सम्यक्त्व चारित्र को नहीं आने देनेवाला कौन सा कर्म है ? काम क्रोधादि विकारो को उत्पन्न करने वाला कौन सा कर्म है ? नाम बदनाम किस कर्म से होता है ? ऊँच नीच खानदान कौन सा कर्म देता है ? शुभ कार्यो मे विघ्न बाधा कौन सा कर्म

डालता है ? चारों गतियो मे प्राणी को रोक कर कौन सा कर्म रखता है।

तथा किस कर्म से कैसे छूटा जा सकता है। वे कौन सी धर्मक्रियाएँ है, जिनका अभ्यास करने से आत्मा कर्म बन्धनों से मुक्त हो सकती है—आदि-आदि विचारो मे निमग्न होना एवं हिंसा आदि आश्रवों के व क्रोधादि कषायों के दुष्परिणामों को अन्तर्दृष्टि से विचारना भी विपाक विचय धर्म ध्यान ही है।

(४) **संस्थानविचय**—संस्थान का अर्थ आकार है। लोक के आकार एवं स्वरूप का चिन्तन करना अर्थात् लोक का क्या संस्थान है ? नरक-स्वर्ग कहाँ है ? उनका क्या स्वरूप है ? मनुष्य लोक कितना बडा है और उसमे धर्म करने के मुख्य क्षेत्र कौन से है ? जड-चेतन में क्या अन्तर है ? षड् द्रव्यो की क्या व्याख्या है ? द्रव्य गुण पर्याय का क्या अर्थ है ? नय प्रमाण का क्या रहस्य है ? स्याद्वाद का क्या तात्पर्य है ? संसार परिवर्तनशील क्यों है ? आदि-आदि लोक सम्बन्धी तात्विक विवेचना मे तल्लीन हो जाना संस्थान विचय धर्म ध्यान है।

१६-धर्मध्यान के लक्षण

धर्मध्यान के चार लक्षण है—१ आज्ञारुचि, २ सूत्ररुचि, ३ निसर्ग रुचि, ४ अवगाढ़ रुचि (उपदेश रुचि)।

१—भगवान की व सद्गुरुदेव की आज्ञा पर रुचि रखना अर्थात् श्रद्धा रखना आज्ञारुचि है।

(२) **अपायविचय**—अपाय का अर्थ दुर्गुण एवं दोष है। अनादि काल से आत्मा के साथ रहे हुए मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग आदि दुर्गुणो के स्वरूप का निर्णय करके उनसे छूटने का उपाय सोचना अपायविचय धर्मध्यान है। जैसे—मेरे मे क्या-क्या दुर्गुण है? क्रोधादि कषाय की मात्रा कितनी है, पूर्वापेक्षा बढी है या घटी? कर्म बन्धन क्यो होता है? इसके क्या-क्या कारण हैं? इनसे कैसे छूट सकता हूँ आदि-आदि विचार करना। तथा जन्म-मरण की आग में जलते हुए संसारी जीवो को देखकर दयार्द्र होना और इन बेचारों के कर्म बन्धन जल्दी से जल्दी कब टूटे व चौरासी के चक्कर से निकल कर ये कब शाश्वत सुखों के अनुभवी बनें, ऐसी शुभ कामना करते हुये उन्हे धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना भी इसी में है।

(३) **विपाकविचय**—कर्मों के फल को विपाक कहते है, अतः ज्ञानावरणीयादि कर्मो के फलो के विषय से विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है। जैसे—किस कर्म का क्या फल है? फल तीव्र-मन्द कैसे होता है? कौन सा कर्म कितने समय तक एवं कितने समय के बाद फल दिखलाता है? ज्ञान को कौन सा कर्म रोकता है? आत्मिक सुखो मे कौन सा कर्म बाधा डालता है? सम्यक्त्व चारित्र को नहीं आने देनेवाला कौन सा कर्म है? काम क्रोधादि विकारो को उत्पन्न करने वाला कौन सा कर्म है? नाम बदनाम किस कर्म से होता है? ऊंच नीच खानदान कौन सा कर्म देता है? शुभ कार्यो मे विघ्न बाधा कौन सा कर्म

डालता है? चारों गतियों में प्राणी को रोक कर कौन सा कम रखता है।

तथा किस कर्म से कैसे छूटा जा सकता है। वे कौन सी धर्मक्रियाएँ हैं, जिनका अभ्यास करने से आत्मा कर्म बन्धनों से मुक्त हो सकती है—आदि-आदि विचारों में निमग्न होना एवं हिंसा आदि आश्रवों के व क्रोधादि कषायों के दुष्परिणामों को अन्तर्दृष्टि से विचारना भी विपाक विचय धर्म ध्यान ही है।

(४) **संस्थानविचय**—संस्थान का अर्थ आकार है। लोक के आकार एवं स्वरूप का चिन्तन करना अर्थात् लोक का क्या संस्थान है? नरक-स्वर्ग कहाँ है? उनका क्या स्वरूप है? मनुष्य लोक कितना बडा है और उसमे धर्म करने के मुख्य क्षेत्र कौन से हैं? जड़-चेतन मे क्या अन्तर है? षड् द्रव्यो की क्या व्याख्या है? द्रव्य गुण पर्याय का क्या अर्थ है? नय प्रमाण का क्या रहस्य है? स्याद्वाद का क्या तात्पर्य है? संसार परिवर्तनशील क्यों है? आदि-आदि लोक सम्बन्धी तात्विक विवेचना मे तल्लीन हो जाना संस्थान विचय धर्म ध्यान है।

१६-धर्मध्यान के लक्षण

धर्मध्यान के चार लक्षण है—१ आज्ञारुचि, २ सूत्ररुचि, ३ निसर्ग रुचि, ४ अवगाढ रुचि (उपदेश रुचि)।

१—भगवान की व सद्गुरुदेव की आज्ञा पर रुचि रखना अर्थात् श्रद्धा रखना आज्ञारुचि है।

२—किसी के उपदेश के विना स्वयमेव दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से सर्वज्ञभाषित-तत्त्वों पर श्रद्धा हो जाना निसर्गरुचि है।

३—अङ्ग-उपाङ्गादि सूत्रों के अध्ययन व श्रवण द्वारा प्रभु-प्रतिपादित तत्वों पर श्रद्धा हो जाना सूत्र रुचि है।

४—आगमों का विस्तारपूर्वक अवगाहन-मन्थन करने से अथवा आचार्य उपाध्यायादि का उपदेश सुनने से प्रभुवाणी में श्रद्धा उत्पन्न होना अवगाढ़रुचि है।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वार्थश्रद्धान ही धर्मध्यान का लिंग-चिह्न है। देव-गुरु-धर्म की स्तुति करने से एवं दान-शील-तप-भावरूप मुक्ति मार्ग की आराधना करने से ही धर्मध्यानी पहचाना जाता है।

१७—धर्मध्यान के अवलम्बन

धर्मध्यान को टिकाये रखने के लिये चार अवलम्बन[1] हैं।

(१) वाचना—आत्मकल्याण के लिये सूत्रार्थ स्वयं पढ़ना एवं योग्य शिष्यादि को पढ़ाना।

(२) पृच्छना—पढ़ते या पढ़ाते समय सूत्रार्थ में शंका होने पर उसे मिटाने के लिये गुरु आदि से विनयपूर्वक पूछना तथा विशेष ज्ञान की वृद्धि के लिये धर्म-चर्चा करना।

(३) परिवर्तना गुरु से ग्रहण किये हुए पाठ को वारवार रटना तथा कण्ठस्थ ज्ञान को पुनः पुनः चितारना-दुहराना।

१—स्था० स्था० ३। १ सू० २४७।

(४) **धर्मकथा**–धर्मोपदेश स्वयं सुनना अथवा दूसरों को सुनाना। (विशेष वर्णन पीछे किया जा चुका है)।

१८–धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

अनुप्रेक्षा का अर्थ है तत्त्वार्थ चिन्तन मे लीन होकर वैराग्य रस में डूब जाना एवं कुछ समय के लिए दुनियावी मोहमाया को भूल जाना।

धर्मध्यान में लीन बनने के लिये प्रभु ने चार अनुप्रेक्षाएँ—भावनाएँ कही है[1]—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा, (४) संसारानुप्रेक्षा।

(१) **एकत्वानुप्रेक्षा**–एकत्व का चिन्तन करना। जैसे—जीव अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, अकेला कर्म करता है और अकेला कृतकर्मों का सुख-दुखरूप फल भोगता है। जिस शरीर को अज्ञानवश "मैं" कहा जाता है, जिस धन के लिये महापाप किया जाता है और जिस परिवार के लिये प्राणी पागल बना फिरता है, क्या वह शरीर, धन और परिवार परभव जाते समय साथ चलेंगे ? यदि नहीं तो फिर उन सब के लिये धर्मध्यान को भूल जाना कितना बडा अज्ञान है। मोह-माया की गठड़ी जितनी ज्यादा वजनदार होगी उतना ही चलना अधिक कठिन होगा। अतः रे जीव ? "नमिराजर्षि" की तरह दुनियावी पदार्थों से प्रेम हटाकर अकेला बनकर आत्मकल्याण कर।

१—स्था० स्था० ४ उ० १ सू० २४७।

२–अनित्यानुप्रेक्षा—अनित्यता का चिन्तन करना। जैसे—दुनिया के दृश्यमान पदार्थ सब अनित्य है—नाशमान है। रे जीव! वज्रवत् सुदृढ़ शरीर वाले वासुदेव, वलदेव, चक्रवर्ती एवं अनन्तवली तीर्थङ्करों का शरीर भी एक दिन भस्मसात् वन गया, तो फिर तेरे इस कच्चे मिट्टी के कुल्हड़े का क्या विश्वास? वड़े-वडे धनकुवेरो का धन भी देखते-देखते पॉखे वनाकर उड गया, तो तेरे इन चॉदी के चार टुकडो का क्या भरोसा? अँगुलियों के दवाव से भालो को मोड़ देनेवाले, वड़े-वड़े मल्लों को वात ही वात में पछाड़ देनेवाले जोध-जवानों को भी इस वुढ़ापे ने जर्जर वनाकर वेकार कर दिया तो फिर तेरी इस कागज़ी जवानी का क्या जोर?

फूल खिलता है और कुम्हला जाता है, पानी का वुलवुला वनता है और मिट जाता है, सूर्य उदय होता है और छिप जाता है। इसी तरह जो जन्म लेता है वह एक दिन अवश्य मरता है। धर्म के अतिरिक्त जगत् मे ऐसी एक भी चीज नहीं है जो ध्रुव एवं शाश्वत हो। अतः हे चेतन! भरतचक्रवर्तिवत् अनित्य भावना मे लीन वनकर तू भी अक्षय अनन्त ज्ञान उत्पन्न करके मुक्तिगामी वन।

(३) अशरणानुप्रेक्षा–धर्म के सिवाय कोई भी रक्षक नहीं है, ऐसी भावना भाना। जैसे—रे जीव! तन, धन और परिवार को अपना मान रहा है और सोच रहा है कि दुःख के समय ये मेरे शरणभूत—रक्षा करनेवाले वनेगे; किन्तु तेरा यह सोचना

गलत है। क्या तू नहीं जानता कि सब तरह के साधन होनेपर भी अनेको धनपति रोगों से सड रहे है एवं तडफ-तड़फ कर मर रहे है ? क्या तूने नहीं सुना कि द्वारकाधीश श्री कृष्ण महावली होते हुए भी अपने माता-पिता की रक्षा नहीं कर सके एव स्वयं भी कौशाम्बी के वन मे पानी-पानी करते शान्त हो गये। अगर जानता है और सुना है तो फिर छोड़ दे जल्दी से जल्दी तन, धन एवं पुत्र परिवार का प्रेम और ले ले अनाथीमुनि की तरह परमपवित्र इस धर्मदेव की शरण।

(४) **संसारानुप्रेक्षा**–संसार के स्वरूप का चिन्तन करना। जैसे—हे जीव। कर्मों के वश तूने चार गति और चौरासी लाख जीव योनियो में कितने जन्म मरण किए एवं कैसे-कैसे कष्टो का सामना किया ? कुछ याद तो कर। नरकों मे तूने अनन्त-क्षुधा, अनन्त तृपा, अनन्त सर्दी, अनन्त गर्मी तथा भयंकर यमो की मार सहन की। तिर्यञ्च गति मे मिट्टी वनकर खोदा गया, पानी वनकर पीया गया, अग्नि वनकर जलाया गया, हवा बनकर फूका गया, वनस्पति वनकर छेदा गया, भेदा गया, पीसा गया और पकाया गया। पशु-पक्षी वनकर कसाइयो द्वारा वुरी तरह से मारा गया तथा देवता वनकर भी तू भोग-विलास मे मग्न रहा। अव मनुष्य जन्म मिला है, आर्य्य देश मिला है, उत्तम कुल मिला है, पॉचों इन्द्रियॉ मिली है और सच्चे गुरु मिले है। अत. आलस्य-प्रमाद को छोड और कुछ धर्मध्यान मे मन को लगाकर प्राप्त सामग्री का लाभ कमा एवं संसार को दु.खो का घर मान।

२२–धारणाओं का स्वरूप

(१) पृथ्वी (पार्थिवी) धारणा–सर्व प्रथम मध्यलोक को क्षीर समुद्र के समान निर्मल जल से परिपूर्ण चिन्तन करे। मध्य

पृथ्वी धारणा से [illegible] ।

भाग में उसके जम्बूद्वी [illegible] एक हजार पत्तोवाले, तप्त सुवर्ण के [illegible] । करे।

उस कमल के वीच मे कर्णिका की जगह सुवर्ण-मेरुपर्वत की रचना करे। फिर उसमे मेरुपर्वत के शिखर पर पाण्डुकवन में पाण्डुक-शिला पर स्फटिकरत्नमय सिंहासन हैं एवं कर्ममल को भस्मसात् करके निर्मल वनने के लिये मैं एक योगिराज के रूप मे उस सिंहासन पर वैठा हूँ, ऐसा विचार करे। यह दृश्य वडा ही सुरम्य और सौम्य प्रतीत होता है। इसका वारवार अभ्यास करने पर चित्तवृत्तियाँ स्थिर होने लगती है।

(२) अग्नि (आग्नेयी) धारणा—तत्पश्चात् स्फटिक सिहासन पर विराजमान वह ध्यानी अपनी नाभि के भीतर के स्थान मे हृदय की ओर ऊपर मुख किये हुये सोलह पत्तोंवाले एक श्वेत कमल का चिन्तन करे एवं उसके प्रत्येक पत्ते पर पीले रंग के अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ऐसे सोलह स्वरो की स्थापना करके कमल के मध्य भाग मे सफेद रंग की जो कर्णिका है उस पर पीले रंग का "र्हं" अक्षर का चिन्तन करे।

इस कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान में नीचे की ओर मुख किये हुये ओधा आठ पत्तोवाला एक मटिया रंग का कमल वनाना चाहिये। उसके प्रत्येक पत्ते पर काले रंग से लिखे हुये आठ कर्मों का चिन्तन करना चाहिये।

तत्पश्चात् नाभि स्थित कमल के वीच मे लिखे हुए "र्हं" अक्षर के रेफ से निकलते हुये धुएँ की कल्पना करके उसके साथ-साथ निकलती हुई अग्नि-ज्वाला का स्मरण करना चाहिये। क्रमशः वढ़ती हुई अग्नि-ज्वाला ऊपरवाले कमल पर अङ्कित

आठों कर्मों को जलाने लगे और कमल के मध्य को छेदकर ऊपर मस्तक तक पहुँच जाये। फिर उसकी एक रेखा बायीं तरफ और दूसरी दाहिनी तरफ निकल जाए। फिर दोनों नीचे की तरफ
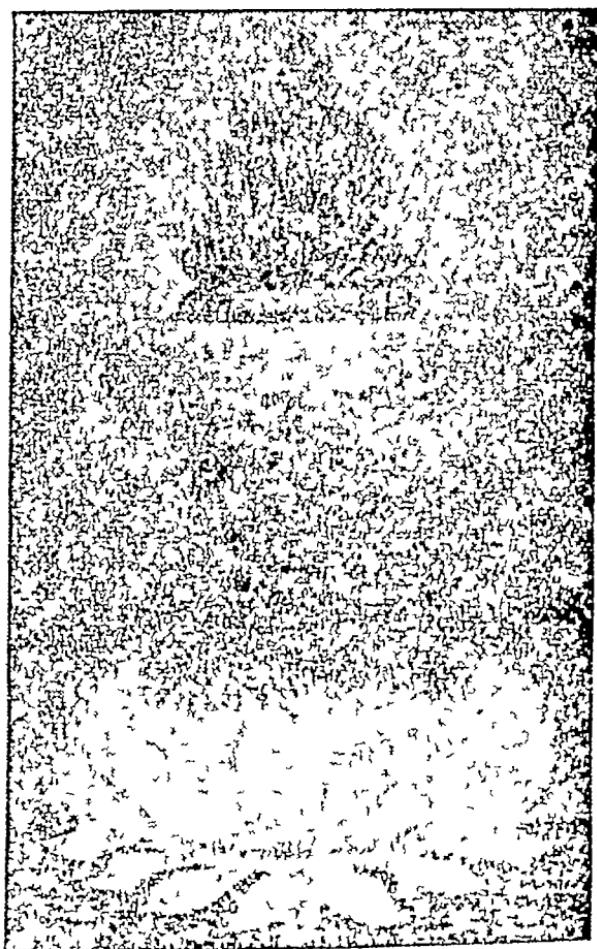
अग्नि धारणा में रमण करते हुए महामुनि !

आकर दोनों कोनों को मिलाकर एवं अग्निमय रेखा बन जाए अर्थात् ऐसा विचार करे कि मेरे शरीर के बाहर तीन कोणवाला अग्नि-मण्डल हो गया।

इन तीनों रेखाओं में प्रत्येक में "र" अक्षर लिखा हुआ सोचे अर्थात् तीनों तरफ "र" अक्षरों से ही यह अग्निमण्डल बना हुआ है। इसके बाद त्रिकोण के बाहर तीनो कोनों पर अग्नि-मय स्वस्तिक लिखा हुआ तथा भीतर तीनो कोनों में प्रत्येक पर "ॐ र्हं" ऐसा अग्गिमय लिखा हुआ सोचे। उस समय ध्यान करनेवाले को यों चिन्तन करना चाहिए कि अग्निमण्डल भीतर आठ कर्मों को एवं बाहर इस शरीर को भस्म कर रहा है। जलते-जलते समस्त कर्म और शरीर राख हो गए है एवं अग्नि भी शान्त हो गई है, केवल आत्मा का तेज दमक रहा है।

पवन (मारुती) धारणा—आग्नेयी धारणा का चिन्तन करके फिर ध्यानी पुरुष इस प्रकार विचार करे कि चारो ओर
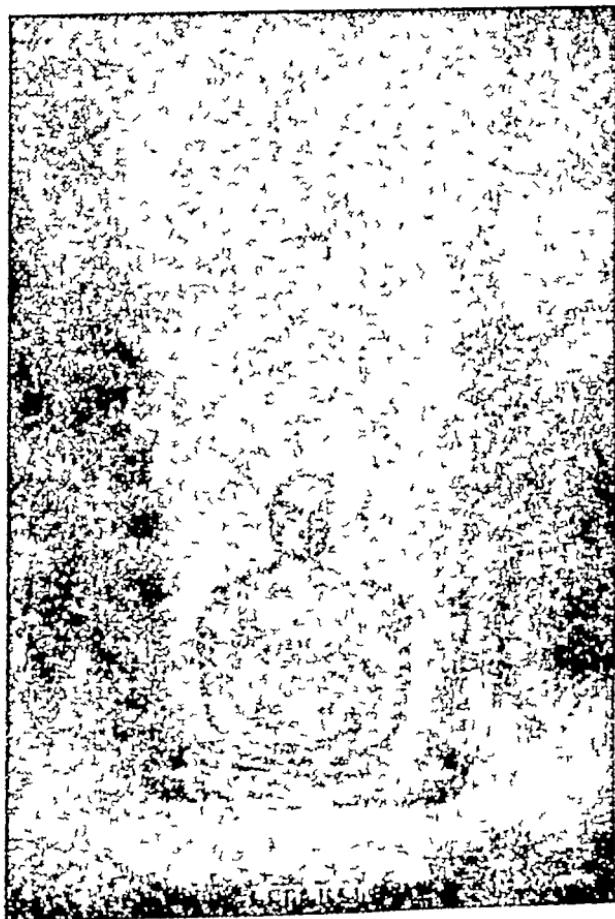
पवन धारणा में सलग्न योगिराज !

बड़े वेग से हवा चल रही है। मेरे चारो तरफ वायु ने गोल मण्डल बना लिया है। उसमे आठ जगह सफेद रंग का

"स्वाँय-स्वाँय" लिखा हुआ है। वह वायु कर्मों की तथा शरीर की राख को उड़ा रही है एवं आत्मा को साफ कर रही है।

जल (वारुणी) धारणा—इसका अर्थ है जल का विचार करना। वही ध्यानी वायुधारणा का चिन्तन करने के बाद इस
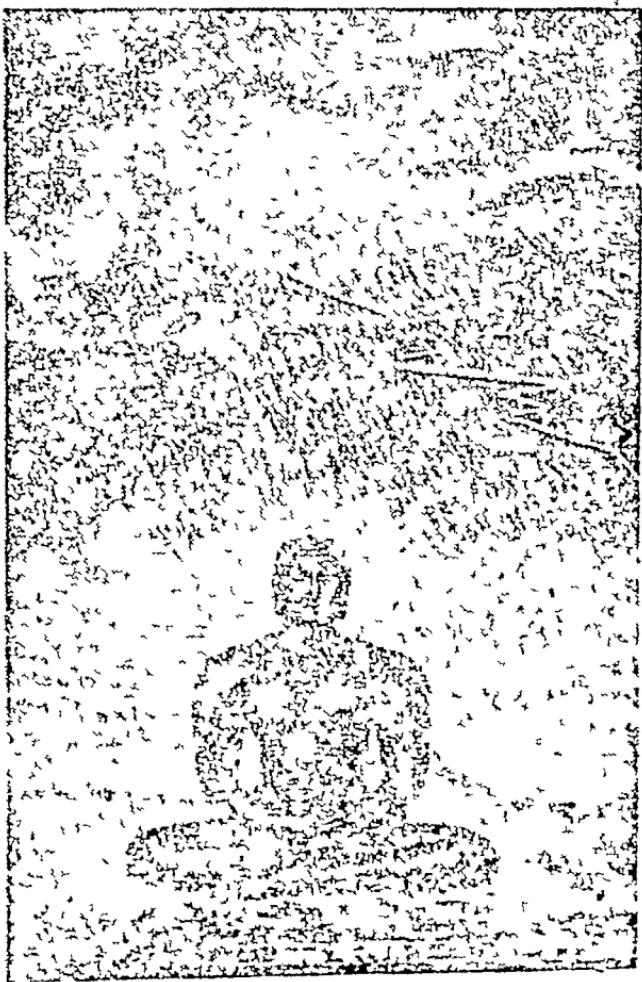
जल धारणा की कल्पना करते हुए महर्षि !

तरह का चिन्तन करे कि आकाश में मेघों के समूह आ गये हैं,

बिजली चमकने लगी है मेघ-गर्जना होने लगी है और मूसलाधार पानी वरसने लगा है। मैं बीच में बैठा हूँ, मेरे ऊपर अर्ध चन्द्राकार पानी का मण्डल है तथा जल के बीजाक्षरों से प प प प लिखा हुआ है। यह जल मेरी आत्मा पर लगी हुई कर्म रज को साफ कर रहा है एवं आत्मा बिलकुल पवित्र बनती जा रही है।

तत्वरूपवती धारणा—इसको तत्वभूधारणा भी कहते है। वारुणीधारणा के पश्चात् इस प्रकार विचार करना चाहिये कि अब मेरी आत्मा कर्ममल से सर्वथा रहित हो गई एवं शरीर भी भस्म हो गया है। मेरे मे सिद्ध पद के अनन्त गुण प्रकट हो चुके है और मुझे अक्षय शान्ति का लाभ मिल चुका है। अब मैं कभी कर्मकल से लिप्त नहीं बनूगा एवं विषय-वासनाओं के जाल में नहीं फँसूगा।

उपर्युक्त पाँच धारणाओं द्वारा पिण्डस्थध्यान का वर्णन किया गया है। इस ध्यान के अभ्यासी पुरुप पर मलिन मन्त्र-विद्याओं का तनिक भी प्रभाव नहीं पडता। भूत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी व क्षुद्र योगिनी आदि उसके पास तक नहीं आ सकते एवं उसका दिव्य तेज नहीं सह सकते। और तो क्या! मदोन्मत्त हाथी, दुष्ट सिंह व विपधर साँप तक उसके सामने स्तब्ध हो जाते है। ये सब प्रासंगिक फल है। इन फलों की प्राप्ति के लिए ध्यान नहीं किया जाता, वह मात्र कर्म निर्जरा के लिये होता है।

२३—पदस्थध्यान

किसी पवित्र पद का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाय वह पदस्थध्यान कहलाता है एवं सिद्धचक्र आदि द्वारा समझने योग्य है।

सिद्धचक्र—आठ पंखुड़ियो वाले सफेद कमल की कल्पना करके उसकी कर्णिका (बीज कोष) मे 'णमो अरिहंताणं'
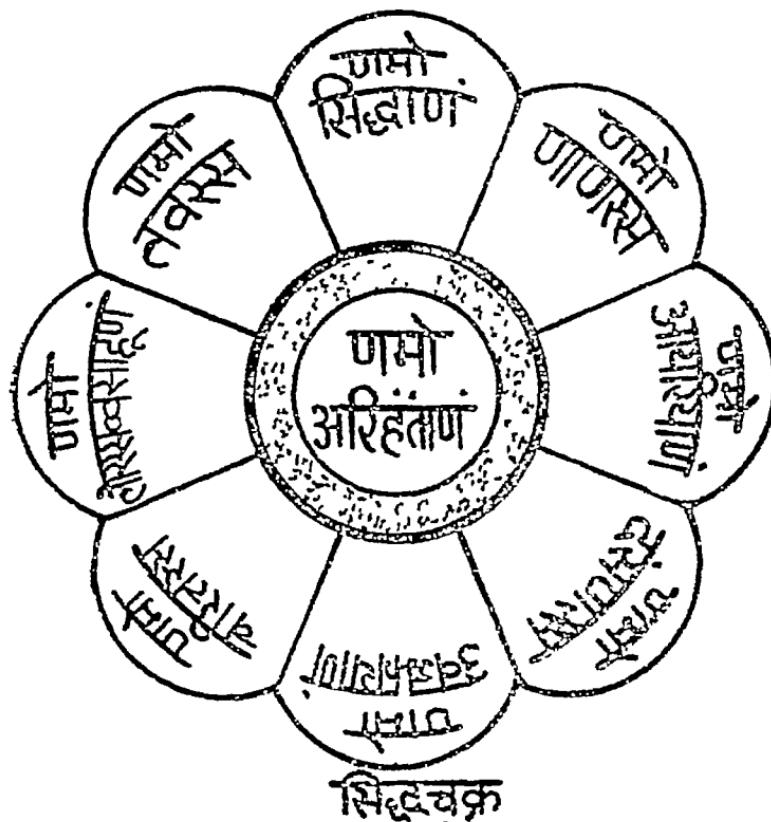
सिद्धचक्र

का ध्यान किया जाता है और पूर्वादि चार दिशाओ, की चार पंखुड़ियों पर क्रमशः 'णमो सिद्धाणं' आदि चार पदो का चिन्तन करते हुये विदिशाओं की चार पंखुड़ियो पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र

और तप का ध्यान किया जाता है। इसे सिद्धचक्र कहते है। विधियुक्त इसकी एक माला फेरने से चतुर्थ भक्त-उपवास का लाभ माना गया है। ऐसे ही "ॐ हं" "ॐ ह्रीं" चत्तारिमंगलं आदि अनेक पदों का ध्यान किया जा सकता है।
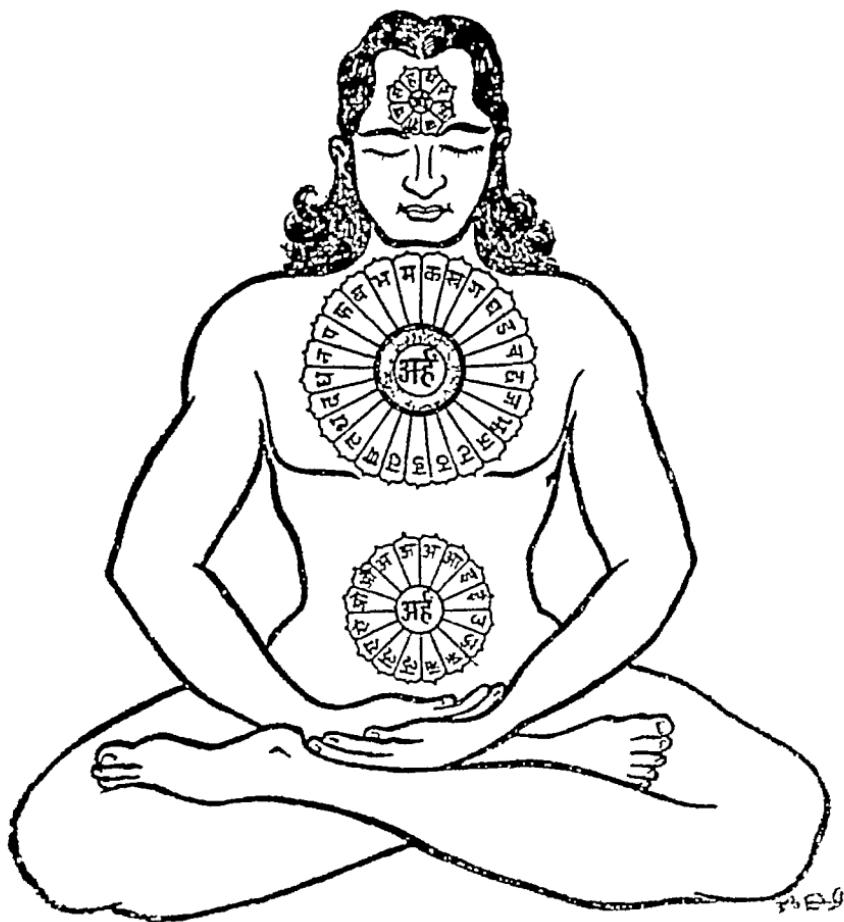
पदस्थ ध्यान की साधना में निमग्न वर्णमाला का ध्यान करते हुए योगीश्वर

अक्षरों के ध्यान को भी पदस्थध्यान मे ग्रहण किया गया

है। इसके अभ्यासी को सोलह पंखुडियों वाले नाभि कमल में प्रत्येक पंखुडी पर भ्रमण करती हुई 'अ आ इ ई' आदि स्वरमाला विचारनी चाहिये। फिर हृदय में पच्चीस पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके उसमे क से म पर्यन्त पच्चीस वर्णों का चिन्तन करना चाहिये। फिर आठ पंखुड़ियो वाले मुख कमल की कल्पना करके उसमे प्रदक्षिणा करते हुए 'य से ह' तक आठ वर्णों का ध्यान करना चाहिये एवं तीनों कमलों के बीज कोष मे 'अर्हं' का चिन्तन करना चाहिए। स्पष्टता के लिये देखो ऊपर का चित्र—

२४—अक्षरध्यान का रहस्य

जो कभी क्षर-नष्ट नहीं होता उसे अक्षर कहते हैं। अक्षर अर्थात् अविनाशी परमात्मा या केवल ज्ञान। हॉ, तो अक्षर ध्यान मे हमे परमात्मा व केवल ज्ञान के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। कई अनुभवियों का यह भी कथन है कि 'अ' 'क' आदि अक्षरों पर किसी तत्त्व का चिन्तन करना चाहिये। जैसे 'क' पर कर्मों का 'ग' पर गुरुओ का, 'ज' पर जगत का 'त' पर तीर्थङ्करों का, 'ध' पर धर्म का, 'न' पर नवकार मन्त्र का 'म' पर मन का आदि आदि।

२५—रूपस्थध्यान

रूपयुक्त परमात्मा—तीर्थङ्कर देव के भिन्न-भिन्न संकल्प चित्रो का विचार करना रूपस्थ ध्यान है। उदाहरणार्थ प्रभु के समवसरण का चित्र लीजिए। जैसे—सुन्दर समवसरण लगा हुआ

है। देवदुन्दभि वज रही है। गन्धोदक की वृष्टि हो रही है। वारह जाति की परिषद् निश्चल एवं शान्त भाव से वैठी हुई है। सिंह के सामने मृग है, अश्व के सम्मुख महिष है, नेवले के सामने साँप है और विल्ली के पास चूहा वैठा है, लेकिन जरा भी वैर-भाव दिखाई नहीं देता। चारों ओर शान्ति का साम्राज्य है। वीच मे स्फटिक सिंहासन पर वीतराग भगवान श्री महावीर विराज रहे है। धर्मोपदेश हो रहा है, ज्ञान की गंगा वह रही है और मैं (साधक) भी वहीं वैठा-वैठा अमृतवाणी का पान करके आत्मा का मैल धो रहा हूँ।

उपर्युक्त पद्धति से भगवान का दीक्षा प्रसंग, वनो मे ध्यान करने का दृश्य तथा केवलोत्पत्ति, निर्वाणगमन आदि-आदि प्रसंगों के रूपक भी समय-समय पर विचारते रहना चाहिये एवं कभी-कभी अपने आपको प्रभु के रूप मे चित्रित कर लेना चाहिये। महापुरुषों के संकल्प से वक्त पर "आपाढ मुनि" की तरह वड़ा भारी लाभ हो सकता है।

२६—रूपातीतध्यान

रूप रङ्ग से अतीत अर्थात् सर्वथा रहित निरञ्जन-निराकार सिद्ध भगवान् का चिन्तन करते हुए तन्मय वन जाना यानी अपने आपको सिद्धरूप मे स्थापित कर लेना रूपातीत ध्यान है। जैसे—मैं देह नहीं हूँ क्योंकि वह दृश्य होता है और मैं द्रष्टा—देखने वाला हूँ। मैं इन्द्रिय नहीं हूँ, क्योंकि इन्द्रियाँ भौतिक होती है एवं मैं अभौतिक आत्मा हूँ। मैं मन भी नहीं

हूँ—क्योंकि वह चंचल होता है और मैं निश्चल निर्विकल्प आत्मा हूँ। मैं न काला हूँ न धोला हूँ, न सुगन्धित हूँ न दुर्गन्धित हूँ, न खट्टा हूँ न मीठा हूँ, न हल्का हूँ न भारी हूँ, न छोटा हूँ न बड़ा हूँ क्योकि ये सब तो जड़ पदार्थ है और मैं सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, ध्रुव, शाश्वत एवं अनन्त ज्ञान का निधान, चेतन हूँ।

इस प्रकार अनन्य भावो से सिद्धो का ध्यान करने वाला कुछ समय के लिये सिद्ध स्वरूप ही बन जाता है। फिर ध्यान, ध्येय और ध्याता का भेद नहीं रहता। ध्याता स्वयं ध्येयरूप मे परिणत हो जाता है।

धर्मध्यान श्वेताम्बर-मतानुसार बारहवें गुण स्थान तक होता है एवं दिगम्बर मतानुसार चौथे से सातवे गुणस्थान तक होता है।

२७–शुक्लध्यान का स्वरूप और भेद

यथासम्भवित श्रुतज्ञान के आधार से मन की अत्यन्त स्थिरता एवं योग का निरोध करना शुक्ल ध्यान है।[1] अथवा जिस ध्यान में वाह्य विपयो का सम्बन्ध होने पर भी वैराग्य वल से चित्त उनकी ओर नहीं जाता एवं शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर हुआ चित्त लेशमात्र भी विचलित नहीं होता, उसको शुक्ल ध्यान कहते है।[2] सरल भापा मे कहे तो शुक्ल ध्यान अर्थात् समाधि अवस्था।

१—समवायाङ्ग स० ४।

२—कर्त्तव्य कौमुदी दूसरा भाग। श्लोक २११

(४) समुच्छिन्नऽक्रियानिवृत्ति—तत्पश्चात् सर्वज्ञ भगवान श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओं को भी रोककर आत्मप्रदेशों को सर्वथा निष्प्रकम्प बना लेते है एवं चौदहवें गुणस्थान मे प्रविष्ट होकर अयोगि-केवली बन जाते है। उनकी यह अवस्था फिर कभी निवृत्त नहीं होती अर्थात् नहीं जाती, अतः इस निष्प्रकम्प अवस्था के ध्यान को समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति व व्युपरतक्रिया-निवृत्ति कहते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से शेष चार कर्म क्षीण हो जाने से अरिहन्त भगवान को मोक्ष प्राप्ति होती है एवं वे सिद्ध बन जाते हैं।

शुक्लध्यान के पहले दो भेद सातवें से बारहवें गुणस्थान तक होते है। तीसरा भेद तेरहवे और चौथा भेद चौदहवें गुण स्थान मे होता है। पहले दो भेदो मे श्रुतज्ञान का अवलम्बन रहता है, किन्तु शेष दो भेदो में ज्ञान के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती।

२८—शुक्लध्यान के चार लिङ्ग[1]

लिङ्ग नाम चिह्न का है। चार चिह्नों से शुक्लध्यानी पहचाना जाता है।

(१) अव्यथ—वह उपसर्गों से व्यथित—चलित नहीं होता।

(२) असम्मोह—वह सूक्ष्म तात्त्विक विषयों मे अथवा देवादि कृत माया से सम्मोहित—भ्रान्तचित्त नहीं होता।

१—स्था० स्था० ४ उ० १ सू० २४७।

(३) **विवेक**—वह आत्मा को देह से भिन्न मानता है और सर्व संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है अर्थात् उसे हेय-उपादेय का वास्तविक ज्ञान होता है।

(४) **व्युत्सर्ग**—व्युत्सर्ग नाम त्याग का है। शुक्लध्यानी निस्संगरूप से देह एवं उपधि का सर्वथा त्याग करता है।

२६—शुक्लध्यान के चार अवलम्बन[१]

शुक्लध्यानरूप महल पर चढ़ने के लिए चार अवलम्बन है अर्थात् निम्नलिखित चार वस्तुओ के सहारे से आत्मा शुक्लध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकती है।

(१) **क्षमा**—उदय मे आये हुए क्रोध को दवाना।

(२) **मार्दव**—मान नहीं करना एवं उदय मे आये हुये मान को रोकना।

(३) **आर्जव**—माया-कपट का त्याग करना—सरल हृदय बनना।

(४) **मुक्ति**—उत्पन्न होते हुए लोभ को विफल करना।

३०—शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

(१) **अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा**—अनन्तभव परम्परा का चिन्तन करना अर्थात् इस आत्मा ने अनन्त वार इस संसार में परि-भ्रमण किया है।

१—स्था० स्था० ४ उ० १ सू० २४७।

(२) **विपरिणामानुप्रेक्षा**—वस्तुओं के विपरिणमन-परिवर्तन का चिन्तन करना यानी संसार की प्रत्येक पौद्गलिक वस्तुएँ अनित्य-परिवर्तनशील है। शुभ पुद्गल अशुभ रूप में एवं अशुभ पुद्गल शुभ रूप मे परिणत होते ही रहते हैं, अतः शुभाशुभ पुद्गलों में आसक्त होकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिये, ऐसे ध्यान करना।

(३) **अशुभानुप्रेक्षा**—संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना। जैसे—इस संसार को धिक्कार है, जिसमे एक सुन्दर रूप का अभिमान करने वाला पुरुष मर कर अपने ही मृत-शरीर में कीडा वन जाता है।

(४) **अपायानुप्रेक्षा**—अपाय-कर्मवन्धन के हेतु आश्रवों से होनेवाले दु.खदायी क्रोध, मान, माया, एवं लोभ रूप कषाय के स्वरूप का चिन्तन करना व उन्हें छोडकर आत्मसत्ता में रमण करने के विचार मे तल्लीन हो जाना।

३१—अष्टाङ्ग योग

वास्तव मे स्वाध्याय के अन्तर्गत मनोनिग्रह के सभी उपाय आ गये फिर भी उपदेश-शैली की भिन्नता से योगदर्शन योगशास्त्र एवं ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो मे अष्टाङ्ग योग का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। उसका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

चित्तवृत्ति को अर्थात् चंचलता को रोकना अथवा अशुभ व्यापार को रोक कर शुभ क्रियाओं मे प्रवृत्ति करना योग है। उसके आठ अङ्ग इस प्रकार है—

(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि।

३२—आठों अङ्गों का संक्षिप्त अर्थ

(१) **यम**—हिंसा आदि से सर्वथा निवृत्त होने का नाम यम है। वे पाँच प्रकार के है—(१) अहिसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। इनमें जाति, देश, काल व निमित्त के मिष किसी भी तरह का अपवाद न हो तो ये "महाव्रत" कहलाते है। पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार इन महाव्रतों की पूर्ण साधना होने पर निम्नलिखित फल मिलते है—

अहिंसा की पूर्ण साधना होने से साधक के निकटस्थ प्राणियो से परस्पर वैर नहीं रहता।

सत्य की पूर्ण साधना होने पर साधक को-वचन सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसके मुख से जो कुछ निकलता है वह सत्य ही होता है।

अचौर्य महाव्रत की पूर्ण साधना हो जाने पर साधक दिव्य-दृष्टि हो जाता है अर्थात् पृथ्वी मे पड़े हुए गुप्त रत्न भी उसकी जानकारी में आ जाते हैं।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को अपूर्व मानसिक एवं शारीरिक शक्ति मिलती है।

अपरिग्रह भाव पूर्णतया स्थिर हो जाने पर साधक जन्म-जन्मान्तर को देखने लगता है।

(२) **विपरिणामानुप्रेक्षा**—वस्तुओ के विपरिणमन-परिवर्तन का चिन्तन करना यानी संसार की प्रत्येक पौद्गलिक वस्तुएँ अनित्य-परिवर्तनशील हैं। शुभ पुद्गल अशुभ रूप मे एवं अशुभ पुद्गल शुभ रूप मे परिणत होते ही रहते है, अतः शुभाशुभ पुद्गलों मे आसक्त होकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिये, ऐसे ध्यान करना।

(३) **अशुभानुप्रेक्षा**—संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना। जैसे—इस संसार को धिक्कार है, जिसमे एक सुन्दर रूप का अभिमान करने वाला पुरुष मर कर अपने ही मृत-शरीर में कीड़ा वन जाता है।

(४) **अपायानुप्रेक्षा**—अपाय-कर्मवन्धन के हेतु आश्रवों से होनेवाले दुःखदायी क्रोध, मान, माया, एवं लोभ रूप कपाय के स्वरूप का चिन्तन करना व उन्हें छोड़कर आत्मसत्ता में रमण करने के विचार मे तल्लीन हो जाना।

३१—अष्टाङ्ग योग

वास्तव मे स्वाध्याय के अन्तर्गत मनोनिग्रह के सभी उपाय आ गये फिर भी उपदेश-शैली की भिन्नता से योगदर्शन योगशास्त्र एवं ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो मे अष्टाङ्ग योग का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। उसका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

चित्तवृत्ति को अर्थात् चंचलता को रोकना अथवा अशुभ व्यापार को रोक कर शुभ क्रियाओ मे प्रवृत्ति करना योग है। उसके आठ अङ्ग इस प्रकार है—

(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि।

३२—आठों अङ्गों का संक्षिप्त अर्थ

(१) **यम**—हिंसा आदि से सर्वथा निवृत्त होने का नाम यम है। वे पाँच प्रकार के है—(१) अहिसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। इनमें जाति, देश, काल व निमित्त के मिप किसी भी तरह का अपवाद न हो तो ये "महा-व्रत" कहलाते है। पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार इन महाव्रतों की पूर्ण साधना होने पर निम्नलिखित फल मिलते है—

अहिंसा की पूर्ण साधना होने से साधक के निकटस्थ प्राणियों में परस्पर वैर नहीं रहता।

सत्य की पूर्ण साधना होने पर साधक को वचन सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसके मुख से जो कुछ निकलता है वह सत्य ही होता है।

अचौर्य महाव्रत की पूर्ण साधना हो जाने पर साधक दिव्य-दृष्टि हो जाता हैं अर्थात् पृथ्वी मे पड़े हुए गुप्त रत्न भी उसकी जानकारी में आ जाते है।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को अपूर्व मानसिक एवं शारीरिक शक्ति मिलती है।

अपरिग्रह भाव पूर्णतया स्थिर हो जाने पर साधक जन्म जन्मान्तर को देखने लगता है।

(२) **नियम**—जिससे आत्मा का नियमन-नियन्त्रण हो, उसे नियम कहते है। नियम के पॉच भेद है--

(क) शौच—आत्मिक शुद्धि।

(ख) संतोप—भाग्य से जो कुछ मिला उसी मे संतुष्ट रहना।

(ग) स्वाध्याय—सत् शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन करना।

(घ) तप—अनशनादि वारह प्रकार की तपस्या करना।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान—अपने इष्टदेव—श्री वीतराग प्रभु की शरण में अपने आप अर्पित हो जाना अर्थात् उनके प्रति दृढ़ श्रद्धालु वन जाना।

(३) **आसन**—अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक निश्चल रूप से वठने का नाम आसन है। आरोग्य और मनः स्थिरता पर आसनों का वहुत प्रभाव पड़ता है। आसनो का परिचय पहले मार्ग मे दिया जा चुका है।

(४) **प्राणायाम**—श्वास पर नियन्त्रण करने को प्राणायाम कहते है। प्राणायाम से मन.स्थिरता एवं इन्द्रिय दमन होते है। प्राणायाम के सात भेद है—

(अ) रेचक—प्रयत्नपूर्वक पेट की हवा को नासिका द्वारा वाहर निकालना।

(आ) पूरक—वाहर की हवा को खींचकर अपने पेट को भरना।

(इ) कुम्भक—नाभि कमल मे कुम्भ की तरह वायु को स्थिर रखना।

(ई) प्रत्याहार—वायु को नाभि आदि स्थानों से खींचकर हृदयादि में ले जाना।

(उ) शान्त—तालु, नाक और मुख में वायु को रोकना।

(ऊ) उत्तर—बाहर से वायु खींचकर उसे ऊपर हृदयादि स्थानों मे रोक लेना।

(ऋ) अधर—वायु को ऊपर से नीचे लाना।

प्राणायाम सबीज और निर्बीज ऐसे दो तरह का माना गया है। निर्बीज प्राणायाम में किसी मन्त्र विशेष का जाप नहीं होता। उसमे केवल मात्राओ से समय का ध्यान रखा जाता है। सबीज प्राणायाम ॐ आदि मन्त्र जपते हुए किया जाता है। यहाँ मन्त्र का नाम बीज है।

(५) **प्रत्याहार**—पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होकर राग-द्वेष वश विकारी बन जाती है। विकारी बनती हुई उन इन्द्र्यो को विषयों से हटा लेना प्रत्याहार कहलाता है।

(६) **धारणा**—किसी एक ध्येय मे चित्त को बाँध लेना धारणा है। इसका वर्णन पिडस्थ ध्यान मे पीछे आ चुका है।

(७) **ध्यान**—धारणा मे लक्ष्यीकृत विषय के साथ एक तार जुड़ जाना ध्यान है। ध्यान का विस्तृत वर्णन पीछे आ गया है।

(८) **समाधि**—ध्यान करते-करते चित्त जब ध्येयरूप मे परिणत हो जाता है अर्थात् उसके स्वरूप का अभाव सा हो

ज्ञाता है एवं फिर उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यान का नाम ही समाधि हो जाता है।

समाधि दो प्रकार की मानी गई—संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि। जिसमे किसी उत्तम वस्तु विशेप का ध्यान किया जाय, वह संप्रज्ञात समाधि है। जिसमे कुछ न सोचकर मन को निश्चल रखा जाय, वह असंप्रज्ञात समाधि है।

धारणा का कालमान वारह सेकिंड है। वारह धारणाओं का ध्यान होता है और वारह ध्यानो की एक समाधि होती है। अस्तु।

३३–पुराने जमाने में स्वाध्याय-ध्यान

चाँदी-सोना जैसे अग्नि मे डालने से निर्मल एवं चमकदार वन जाते है, वैसे ही स्वाध्याय ध्यान से आत्मा पवित्र एवं तेजस्वी वन जाती है। द० अ० ८ गा० ४३ में कहा है कि हर समय स्वाध्याय में लीन रहना चाहिये।

पुराने जमाने मे ऋषि मुनि वहुत ज्यादा स्वाध्यान-ध्यान किया करते थे। अभिग्रहधारी मुनियों के लिए कहा गया है[१] कि वे पहले प्रहर मे स्वाध्याय करते थे, दूसरे प्रहर में ध्यान करते थे, तीसरे प्रहर मे भिक्षा करते थे एवं चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय लीन हो जाते थे। इसी तरह रात्रि को भी प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे मे कुछ नींद और चौथे प्रहर मे

१—उ० अ० २६ गा० १२ और ४४

फिर स्वाध्याय करते थे। ऐसे आठ प्रहर के दिन-रात में उनके छः प्रहर तो स्वाध्याय-ध्यान मे ही गुजरते थे।

इसके अलावा देखिये—श्री गौतम स्वामी छठ-छठ पारणा करते हुए सूर्याभिमुख बैठ कर ध्यान करते थे। भगवान महावीर ने अपना छद्मस्थ काल प्रायः स्वाध्याय-ध्यान में ही व्यतीत किया था। साढ़े बारह साल मे मात्र दो घडी निद्रा ली थी एवं अन्त मे "ऋजुवाला" नदी के उत्तरी किनारे पर "सामाक" कृपिक के खेत मे शाल वृक्ष के पास गोदुह आसन से ध्यान करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त किया था।[1]

श्री गजसुकुमाल मुनि ने बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा धारकर श्री अरिष्टनेमि भगवान की आज्ञा से महाकाल-श्मशान में ध्यान किया था एवं सोमिल ब्राह्मणकृत मरणान्त उपसर्ग होने पर भी ध्यान में निश्चल रहकर निर्वाण की प्राप्ति की थी।[2]

श्री बाहुबलि महामुनि ने एक साल तक ध्यानस्थ खड़े रहकर मान मतङ्गज को मारा था।

श्री भरतचक्रवर्ती ने आदर्शमहल (आरीसा भवन) मे स्नान करते समय अनित्य चिन्तन मे लीन बनकर सर्वज्ञता पाई थी।

श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्पि भगवान महावीर की आज्ञा से उपवनो मे ऊर्ध्वबाहु होकर कायोत्सर्ग-ध्यान किया करते थे। उन्होने

१—आ० श्रु० १ अ० ६ तथा आ० श्रु० २ अ० १५

२—अंतगड वर्ग० ३ अ० ८

है। अनादिकाल के शत्रु, क्रोध, मान, माया, लोभ, क्षीण हो जाते है। आत्मिक तेज अलौकिक हो जाता है और यह जीवन विश्व के लिये आदर्श बन जाता है। लेकिन आँख मूँदकर व मुँह बाँधकर तोते वाले राम-राम करने से कुछ नहीं होता। गहरे पानी मे पैठकर गोते लगाने से ही अमूल्यरत्न मिलते है, अस्तु। स्वाध्यायी-ध्यानी आदर्श आत्माओ का स्मरण करते हुए मुमुक्षु-प्राणी प्रस्तुत पुस्तकोक्त शास्त्रिय विधि से स्वाध्याय-ध्यान करके आध्यात्म प्रकाश को प्राप्त हो। बस इसी मंगल-कामना के साथ लेखिनी को विश्राम देता हूँ।

ॐ शान्ति। शान्ति। शान्ति॥

लेखक की अन्य रचनाएँ

प्रकाशित

१—तेरापंथ एटले शुं ? गुजराती
२—धर्म एटले शुं ? ”
३—परीक्षक बनो ”
४—सच्चा धन हिन्दी
५—प्रश्न-प्रकाश ”
६—चमकते-चाँद ”
७—जैन-जीवन ”
८—एक आदर्श आत्मा ”
९—सोलह-सतियाँ ”
१०—ज्ञान के गीत ”
११—पखवाडा ”
१२—भजनो की भेंट ”
१३—गणिगुण गीतिनवकम् संस्कृत

अप्रकाशित

१—देव-गुरु-धर्म द्वात्रिंशिका ”
२—प्रास्ताविक श्लोक शतकम् ”
३—एकाह्निक श्री कालुशतकम् ”
४—श्री कालु गुणाष्टकम् ”
५—श्री कालु कल्याण मंदिरम् ”
६—भाविनी ”
७—ऐक्यम् ”
८—श्री भिक्षु शब्दानुशासन लघुवृत्ति, तद्धितप्रकरणम् ”

९—गुर्जर भजन पुष्पावलि	गुजराती
१०—गुर्जर व्याख्यान रत्नावलि	”
११—वैदिक विचार विमर्शन	हिन्दी
१२—संक्षिप्त वैदिक विचार विमर्शन	”
१३—अवधान-विधि	”
१४—संस्कृत बोलने का सरल तरीका	”
१५—दोहा-सन्दोह	”
१६—व्याख्यान मणिमाला	”
१७—व्याख्यान मञ्जूषा	”
१८—जैन महाभारत आदि बीस व्याख्यान	”
१९—उपदेश—सुमनमाला	”
२०—उपदेश-द्विपञ्चाशिका	”
२१—धन-बावनी	राजस्थानी
२२—सवैया-शतक	”
२३—औपदेशिक ढालें	”
२४—प्रास्ताविक ढालें	”
२५—कथा प्रबन्ध	”
२६—छः बड़े व्याख्यान	”
२७—ग्यारह छोटे व्याख्यान	”
२८—सावधानी रो समुद्र	”
२९—पञ्जाब-पच्चीसी	पंजाबी